पुस्तक

वर्धमान शिक्षा सप्तशती

रचयिता

श्री चन्दन मुनि

सम्पादक

डा० छगनलाल जी शास्त्री

प्रकाशक

श्रीमती प्रेमलता श्रीमाल

संयोजिका—

श्री वर्धमान शिक्षा सप्तशती प्रकाशन समिति
बिरलानगर (ग्वालियर)

प्राप्तिस्थान

- सर्वधर्म मानव मन्दिर
  बिरलानगर, ग्वालियर

- इन्द्रचंद नौलखा
  अभयकुमार राजकुमार नौलखा
  दहीमंडी, लश्कर (ग्वालियर)

- प्रकाशन वर्ष
  वि० स० २०३३, दिसम्बर १९७६

मुद्रक

श्रीचंद सुराना के लिए
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस
राजामंडी आगरा-२

मूल्य : सोलह रुपया मात्र

एक दूसरा दृष्टिकोण और भी इस कृति के निर्माण मे रहा है कि प्राकृतभाषा के जानने वाले विश्व मे बहुत कम ही विद्वान है, जबकि संस्कृत भाषा के जानने वाले व उससे सम्पर्क रखने वाले आज भी लाखो व्यक्ति पाये जाते है। इस कृति को पढकर वे सहज ही उस महाप्रभु के सार्वजनीन उपदेशो से परिचित होगे—ऐसा दृढ विश्वास है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए अन्तिम प्रशस्ति श्लोको मे मैंने लिखा है—

प्राकृतवागनभिज्ञा, सन्त्यपरे भूरिशोऽपि विद्वास ।
एता कृति पठन्तो, ज्ञास्यन्ते तत्त्वमार्हन्त्यम् ॥

अनुवाद की अपेक्षा

संस्कृत भाषा की कृति चाहे कितनी सरल हो, सुबोध हो, फिर भी आम जनता उसका रसास्वाद नही कर पाती। अत इस युग मे संस्कृत-कृतियो का अनुवाद अपेक्षणीय जान पडता है, परन्तु अनुवाद करना जितना सरल प्रतीत होता है, उतना वह सरल कार्य नही है। प्रत्येक भाषा अपनी विशेषता एव अर्थज्ञापन-क्षमता रखती ही है। उसको दूसरी भाषा मे यथार्थतया उतारना एक कुशल कारीगर का काम है। मेरा यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नही होगा कि श्री छगनलाल जी शास्त्री इस अनुवाद कार्य की कसौटी पर स्वर्ण की तरह खरे उतरे है। प्रस्तुत अनुवाद मे उनकी वैयाकरण ज्ञान-गम्भीरता, तात्त्विक-विचक्षणता एव विवेचन क्षमता स्पष्ट परिलक्षित होती है। प्राय पर्यायवाची शब्द साथ-साथ देने मे यह अनुवाद विशेष सुगम एव उपयोगी बन पडा है। कही-कही कोष्ठको मे तात्पर्यार्थ भी सूचित करने की सफल चेष्टा की है, इससे मूल कृति को हृदयगम करने मे विशेष सहायता मिल जाती है।

श्री शास्त्री जी द्वारा लिखा गया शोधपूर्ण विस्तृत सपादकीय तो विशेषतया पठनीय एव मननीय है।

अस्तु, यह वर्धमान-शिक्षा-सप्तशती भगवान् वर्धमान के ही चरणो मे अर्पित करता हू। मेरा इसमे है भी क्या ? जैसा कि प्रशस्ति मे लिखा गया है—

इद तदीय वस्तु, पुनरप्युपदीकरोमि तत्पुरत ।
गृहीतमुदधेर्नीर पुनरप्युदधौ समाविशति ॥

बस, इन्ही श्रद्धासुमनो के साथ विनयावनत

स० २०३३ मृगसिर शुक्ला पचमी
बेलनगज आगरा।

— चन्दन मुनि

आगमोत्तर काल मे आधुनिक आर्य भाषा-काल की मध्यावधि मे जैन आचार्यो द्वारा की गई रचनाओ पर हम ध्यान दे तो पायेगे कि शौरसेनी, महाराष्ट्री जो परिनिष्ठित साहित्यिक प्राकृत थी, अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषाओ के प्रारम्भिक रूप जो अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओ के बीच का स्वरूप लिये हुए है, मे विभिन्न विषयो पर विभिन्न शैलियो मे प्रचुर मात्रा मे साहित्य सर्जन किया गया।

इन सब के साथ-साथ जैन विद्वानो की एक दूसरी विशेषता यह है कि उन्होने सस्कृत की महत्ता को, यद्यपि वह उनके मूल आगमो की भाषा नही थी, कभी कम नही आका। आचार्य उमास्वाति, जिनका समय यद्यपि सर्वथा सुनिश्चित तो नही है, पर परम्परा मे पहली शताब्दी तक ले जाया जाता है, से लेकर सस्कृत मे जैन-विद्वानो द्वारा ग्रन्थ-रचना का क्रम कभी अवरुद्ध नही हुआ। जब भारत मे दार्शनिक तथा नैयायिक शैली मे वाद-विवाद एव शास्त्रार्थ का एक विशेष युग था, तब जैन नैयायिको ने सस्कृत के माध्यम मे जो न्याय-शास्त्रीय ग्रन्थो की रचना की, उसका नैयायिक वाङ्मय मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीप्रकार काव्य, कथा, चरित प्रभृति विविध साहित्यिक विधाओ मे उन्होने विशाल साहित्य रचा। इस ओर विद्वानो का ध्यान कम जाने से आज ऐसे अनेक ग्रन्थ प्राचीन भडारो के कोठो मे बन्द पडे है, जिनका नाम तक भी शायद लोगो को ज्ञात नही। इस ओर जैसा चाहिए, कार्य नही हुआ। अस्तु।

सस्कृत की ओर जैन-विद्वानो के विशेष झुकाव का कारण कोई अस्पष्ट नही है। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से सस्कृत का बहुत बडा महत्त्व है। उसका स्वरूप सहस्राब्दियो के प्रयोग के परिणाम से इतना समृद्ध, सबल और समर्थ हो गया है कि उसमे गभीर और निगूढ भावो को अत्यन्त वैज्ञानिक तथा युक्ति-सगत शैली मे कहने की अपनी असाधारण क्षमता है। उसके शब्दकोष की अपनी एक अद्भुत विशेषता है। अल्पतम शब्दावली मे अत्यन्त विस्तृत भावराशि को सूत्रात्मक रूप मे सजोने और व्यक्त करने मे वह अद्वितीय है।

सस्कृत अत्यन्त व्याकरणनिष्ठ भाषा है, जिसके कारण इसके सम्यक् व यथावत् अध्ययन मे अभ्यास अपेक्षित है, पर इसे जैसी कठिनता की बात, जो इसके सम्बन्ध मे बहुत प्रचलित है, अतिरजित है। सस्कृत की व्याकरण-बद्धता का एक बडा लाभ यह है कि विश्व मे जहाँ कही उसमे लेखन-पठन होता है, उसमे सार्वत्रिक एकरूपता है।

भारतीय आर्य परिवारीय भाषाओ का तो उससे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है ही। उन्होने अपनी शब्दावली का अधिकाश भाग सीधा इसी से स्वीकार किया है।

महत्त्वपूर्ण पद्यों को छाँट कर इसमें सन्निविष्ट किया। शृंगार की रागात्मक तथा मधुरतम रसात्मक भावनाओं के अत्यन्त कौशल, लाघव तथा पेशल भावपूर्वक प्रस्तुतीकरण में गाहा-सतसई न केवल भारतीय, प्रत्युत विश्व-वाङ्मय का एक अभूतपूर्व एवं अभूत-पश्चात् ग्रन्थ है।

हाल से शुरू हुई यह परम्परा भारतीय वाङ्मय में उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इसके पश्चात् वज्जा लग्ग (व्रज्यालग्न, नामकी सतसई का स्थान है जिसे श्वेताम्बर जैन मुनि जयवल्लभ ने संगृहीत किया।

हाल की गाहा-सतसई या गाथासप्तशती के नामकरण का आधार वहाँ प्रयुक्त प्राकृत का गाथा नामक सुप्रसिद्ध छन्द है जो विषमाक्षर पाद वाला होता है। जयवल्लभ ने जो वज्जा शब्द का प्रयोग किया है उसकी विद्वानों ने अनेक प्रकार से छाया की है—अर्थ किया है। पद्य आदि अनेक छाया शब्दों से जोड़ते हुए विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। सुप्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण डा० आर० पिशल ने वज्जा को व्रज्या के अर्थ में माना है। वैसे वज्जा शब्द देशी है, जो अधिकार या प्रस्ताव के अर्थ में प्रयुक्त है। संस्कृत में व्रज्या शब्द का एक अर्थ 'समुदाय' भी है, जो अधिकार और प्रस्ताव से समन्वित हो सकता है। जयवल्लभ ने प्रस्तुत कृति को व्रज्याओं या अधिकारों में बाँटा है।

गाहा सतसई और वज्जालग्ग के बाद गोवर्धन की आर्या सप्तशती का स्थान है। यह गाहा-सतसई और वज्जा लग्ग की तरह संकलन-ग्रन्थ नहीं है -एक ही कवि (गोवर्धन) की रचना है। इसमें केवल शृङ्गाररस के ही पद्य नहीं, अन्य रसों और भावों का भी पर्याप्त समावेश है। हाल की गाहा-सतसई अथवा गाथा-सप्तशती की तरह गोवर्धन के इस सात सौ पद्यों के ग्रन्थ का नामकरण आर्या छन्द के आधार पर हुआ।

सप्तशती काव्य की यह परम्परा उत्तरवर्ती हिन्दी कवि 'महाकवि बिहारी' से आगे बढ़ती है—जो सतसई के नाम से प्रसार पाती है। जहाँ पहले ग्रन्थों के नामकरण में मुख्यतः छन्द आधार रहा है, बिहारी से आगे बढ़ने वाली इस काव्य-परम्परा में नाम का आधार मुख्यतः कवि हो जाता है, जैसे-बिहारी-सतसई मतिराम-सतसई, वृन्द-सतसई इत्यादि।

हाल से प्रारम्भ होने वाली यह सात सौ पद्यों के ग्रन्थों की परम्परा प्रायः मुक्तक रचनाओं की है। इन रचनाओं में सम्प्रयुक्त पद्य मुक्त रूप में—बिना किसी पूर्वापर सम्बन्ध के अपना परिपूर्ण—आशय व्यक्त करते हैं। इससे पूर्व संस्कृत में दुर्गा-सप्तशती जैसे सात सौ पद्यों में सप्तशती नामक जो ग्रन्थ हैं, वे पूर्वापर

सुनिश्चित है कि आनेवाले समय मे भी उसकी उपयोगिता तथा ग्राह्यता कदापि व्याहत नही हो सकेगी।

जैसा कि पीछे सकेत किया गया है, भगवान् महावीर के आदर्शों पर प्राणपण से कटिबद्ध तथा गतिशील परमश्रद्धेय श्री चन्दन मुनिजी का उनके (भगवान् महावीर के) २५०० वें निर्वाण-महोत्सव की ऐतिहासिक वेला मे उनकी शिक्षाओ के नवनीत को शब्द-बद्ध करने का जो भाव जागा जिसकी परिणति प्रस्तुत सप्तशती के रूप है, नितरां वरेण्य और श्लाघ्य है। इसमे कोई सन्देह नही कि सस्कृत के भाषात्मक परिधान ने इस कृति को एक ऐसा वैशिष्ट्य दे दिया है, जिससे भारतवर्ष मे पचनद से असम तक तथा काश्मीर से केरल तक विद्वज्जगत् मे इसकी अधिकाधिक ग्राह्यता होगी तथा यह शाश्वत साहित्यिक रचना के रूप मे प्रतिष्ठा पायेगी। यद्यपि मुनिजी ने इसमे जो कुछ कहा है, वह प्राकृत निबद्ध आगम-वाङ्मय तथा तत्सम्बद्ध ग्रन्थोप ग्रन्थो मे बहुत विस्तार से व्याख्यात है पर वह विस्तार इतना व्यापक है कि उसमे से उस नवनीत को निकाल पाना हर किसी से शक्य नही होता जो मुनिजी ने इन सात सौ पद्यो मे प्रस्तुत कर दिया है।

दूसरी कठिनाई एक और है जैसा कि पहले उल्लेख हुआ है, यद्यपि प्राकृत भाषाएं कभी भारत मे लोक-भाषाओ के रूप मे व्यवहृत व प्रयुक्त थी, सभी इनका सहज रूप मे प्रयोग करते थे पर आज स्थिति सर्वथा भिन्न हो गई है। प्राकृत से जन-मानस का इतना व्यवधान हो गया है कि वह लोगो के लिए सस्कृत से भी अधिक कठिन भाषा बन गई है और इस समय प्राकृत को समझने के लिए सस्कृत की छाया का अवलम्बन लिए बिना काम ही नही चलता है। यद्यपि प्राकृत और सस्कृत दोनो प्राचीन भाषाएँ है, पर प्राकृत के साथ जो घटित हुआ, सस्कृत के साथ नही हो सका। क्योकि सस्कृत का धार्मिक लौकिक तथा सामाजिक सस्कारो मे शुरू से ही सदा प्रयोग चला आ रहा है, आज भी है कि वह लोगो से अत्यन्त दूर नही जा सकी। एक बात और, प्राकृत का सम्बन्ध धार्मिक दृष्टि से जहा विशेषत जैन धर्म से है, पालि का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है, उस तरह सस्कृत का सम्बन्ध एकान्त रूप से किसी धर्म विशेष से न होकर वैदिक, जैन, बौद्ध आदि सभी भारतीय परम्पराओ व धर्मों से समान रूप से जुडा है। सभी परम्पराओ के प्रतिभाशील मनीषियो ने इसमे सोत्साह साहित्य का सर्जन किया, जिसका चाहे थोडा ही सही पठन-पाठन आज भी तत्-तत् परम्पराओ मे प्रवृत्त है। जहाँ वैदिक परम्परा ने महर्षि पतञ्जलि, आचार्य शकर जैसे वेत्ता पैदा किये, जैन परम्परा ने आचार्य हरिभद्र और आचार्य समन्तभद्र जैसे विद्वान् दिये, वहाँ बौद्ध परम्परा ने आचार्य नागार्जुन और धर्मकीर्ति जैसे प्रज्ञा-पुरुष पैदा किए। इन सब मनीषी पुरुषो की रचनाओ से सस्कृत साहित्य का निधान

आसक्तिमन्त:परिसर्पिणी हा, यावन्न चान्त:करणं जहाति ।
त्यागेन किं तेन बहिर्भवेन, स्ववञ्चनं वेत्ति जिनैरभाणि ॥
(त्यागिव्याख्यान षट्कम्, श्लोक ६)

वस्तुत: आसक्ति को छोडे बिना बाह्य त्याग एक प्रकार से आत्म-वञ्चना ही है ।

जीवन मे नि:सन्देह ज्ञान का परम वैशिष्ट्य है, पर जब तक उसकी क्रिया मे अन्विति न हो, तब तक जीवन मे उसका फलित क्या निष्पन्न होगा । पथ तो जान लिया, पर उस पर चले नही तो पथ बलात् तो किसी को नही चला सकता । इसलिए ज्ञान और कर्म दोनो का समन्वय जीवन मे सुतरां अपेक्षित है ।

जैन दर्शन ने तो 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष' के रूप मे मोक्ष की अभिसिद्धि इन दोनो की समन्विति मे स्वीकार की है । ग्रन्थकार ने महावीर के आशय को ध्यान मे रखते हुए इसे बहुत प्रभावक रूप मे उपस्थित किया है । कितना सुन्दर कहा है —

न धावने काऽपि विपरीता ऽऽस्ते, दिशावबोधो यदि नास्ति सम्यक् ।
निर्णीय गन्तव्यपथं यियासो शनै: शनैर्यानमपि प्रशस्तम् ॥
(ज्ञानक्रिया-स्तवकम् श्लोक ४)

मनुष्य दौडता ही दौडता जाय और दिशा का कोई ज्ञान ही न हो तो उस दौडने से क्या सधेगा ? यह अत्यन्त आवश्यक है कि गन्तव्यपथ और प्राप्तव्य ध्येय का सम्यक् ज्ञान हो । यदि वैसा हो जाय, तदनुरूप चला जाय तो गति मन्द हो सकती है, पर चाहे विलम्ब से ही सही, लक्ष्य अप्राप्त नही रह सकता ।

ज्ञान की तरह क्रिया का भी अपना महत्त्व है । मार्ग को भली भाँति जान लिया समझ लिया और चले नही तो केवल जान लेने, समझ लेने से क्या सधेगा ? ज्ञानपूर्वक कर्म करने से ही वास्तविक उपलब्धि होगी । ग्रन्थकार ने बडी प्राञ्जल और सुगम शब्दावली मे कहा है—

किं भक्ष्यबोधादुदरस्य पूर्ति:, किं यानबोधात् पुरगोपलब्धि: ।
कृत्यार्पितं ज्ञानमिहोपयोगि क्रियाहृतं ज्ञानमनर्थकारि ॥
(ज्ञानक्रिया-स्तवकम्, श्लोक ७)

ठीक ही है, पेट केवल पुष्टिकर और उत्तम भोज्य पदार्थों के ज्ञान और चर्चा से नही भरता, उनको आत्मसात करने से ही भरता है । इसलिए ज्ञान क्रियाहत न हो, क्रिया से अनुप्राणित हो ।

ग्रन्थकार ने धर्मबीजावाप्ति नामक शीर्षक के अन्तर्गत ग्रंथ के सन्दर्भ मे इस प्रकार विश्लेषण किया है । वे लिखते हैं :—

वर्णन मे जहाँ सजीवता है वहाँ एक जाग्रत प्रेरणा भी।

अहिंसा जैनधर्म का प्राण है, परन्तु उसकी साधना बड़ी सूक्ष्म है। अहिंसा बाह्य शक्ति या बल प्रयोग मे नही सधती। वह तो हृदय की दयार्द्रता, पवित्रता और कोमलता की माग करती है। मुनिजी ने लिखा है —

> यद् रक्तरक्तं वसन जगत्या, रक्तेन शुद्ध न भवेत् कदापि।
> शक्त्या निरोद्धुं न तथैव हिंसा शक्या, न यावत् हृदय दयार्द्रम्॥
> (आत्मरक्षा-त्रिक-द्वादशकम्, श्लोक १२)

क्या कभी खून से रगा हुआ वस्त्र खून से धोया जा सकता है? खून से तो वह और अधिक लाल होगा। उसी प्रकार शक्ति प्रयोग से अहिंसा कहा टिक पायेगी वह तो हिंसा हो जायगी।

जातीय भेद-भाव के आधार पर जो दुर्लंघ्य दीवारे जगत् मे बन गई, वस्तुत सच्चा धर्म उन्हे समर्थन नही दे सकता। भगवान् महावीर ने जातिवाद की अतात्त्विकता पर बहुत जोर दिया था। मुनिजी ने उसका आशय बहुत ही सुन्दर और सरल शब्दो मे उपस्थित किया है।

> गुणकर्मस्वभावेन, सा च भिन्नत्वमागता।
> वस्तुतो भिन्नता नास्ति, सम्यक् तत्त्व विभाव्यताम्॥
>
> कर्मणा ब्राह्मणो जात, कर्मणा क्षत्रिय पुन।
> वैश्यश्च कर्मणा भूत, शूद्रोऽपि किल कर्मणा॥
>
> तन्तुसन्तानकार्येण, तन्तुवायो निगद्यते।
> स्वर्णेन स्वर्णकारोऽथ, कुम्भकारोऽपि तत्क्रिय॥
>
> लोहकारश्चर्मकारो, वाणिज्येनोदितो वणिक्।
> कृषिप्रधान कृषिका, नटनान्नट उच्यते॥
>
> पाठनात् पाठकस्तद्वत्, चिकित्सातश्चिकित्सक।
> का जातिर्वस्तुतस्तेषा, कर्मभि सा पृथग्विधा॥
>
> कार्यमुच्चतमं किं स्यात्, किं च नीच प्रकीर्त्यते।
> स्वस्वस्थाने तु सर्वेषा, महत्त्वं विद्यते यत॥
>
> आचरण हि सम्योच्चं, स एवोच्चतरो नर।
> नीचाचरणभाग् नीचो, न सन्देह्य मनागपि॥
>
> (जातिवाद निरसन-त्रयोदशकम् श्लोक ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९)

वहमानं जलं पुण्यं, पापं कलुषित हि तत् ।
नालिकारूपमाप्तोऽसा—वास्रव. पुण्यपापयो ॥
वहन्नीरावरोधो हि, संवरश्चास्रवेतर ।
उदञ्चनं जलादीना, शोषणं निर्जरा पुन ॥

जलस्य सञ्चयो वन्धो, मोक्षो रिक्तं सरस्तथा ।
इत्थं तडागदृष्टान्तात्, सम्यग् वोध, प्रजायते ॥
(नवपदार्थविबोधदशकम् श्लोक ७, ८, ९, १०)

सर्वथा जल-शून्य सरोवर कृत्स्न-कर्म-क्षय जन्य मोक्ष का बडा सुन्दर उपमान है। मोक्ष कोई उपलब्धि नही है, वह तो अपने यथार्थस्वरूप मे अवस्थिति है। क्योकि आत्मा वैभाविक आवरणो से आच्छन्न है, जिनका अपगम कर आत्म-स्वरूप मे अवस्थित होने का प्रयास किया जाता है, इस दृष्टि से व्यवहारत उपलब्धि का प्रयोग होता है पर वह तात्त्विक नही है।

धर्म की गरिमा तथा प्रकृष्टता को स्थापित करने वाले विचार मुनिजी ने निम्नाकित शब्दो मे प्रकट किये हैं, जो वडे प्रेरक है —

धर्म एव गतितुल्य , स हि प्रतिष्ठा च दु खमग्नानाम् ।
धर्म एव शरण ध्रुवमनाश्रयाणा प्रकृष्टतमम् ।
वन्धु सखा सहाय,स्वामी नाथोऽपि तद्विरहितानाम् ।
धर्म एव ससारे, कष्टहर शान्तिदायी च ॥
(धर्म-माहात्म्य-चतुष्कम् श्लोक ३, ४)

इसी प्रकार चित्त-समाधि के सन्दर्भ मे उन्होने तपस्या और धर्म-चिन्ता से मिलने वाले आनन्द का निम्नाकित शब्दो मे वर्णन किया है

घोर तप आचरतस्तात्त्विकचिन्तावत पुनस्तावत् ।
सहजानन्दो य स्यात्, चित्तसमाधिर्निगदित स ॥
(चित्तसमाधि-द्वादशकम्-श्लोक ३)

यही आत्मानन्द या स्वाभाविक आनन्द है। ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम पचपन पद्यो मे आगमो के सुभाषितो को बहुत ही सुन्दर और प्राजल रूप मे अनूदित किया है, जिन्हे पढने मे मूल जैसा आनन्द आता है। उदाहरणार्थ उसका पहला पद्य इस प्रकार है —

यथा द्विरेफो रसमापिवन् सन्, पुष्पाणि न क्लामयति द्रुमस्य ।
प्रीणाति चात्मानमसौ तथैव, गृह्णन् मुनिर्माधुकरी जनेभ्य.
(आगम-सुभाषितानि श्लोक १)

विषयानुक्रमः

वर्धमान
शिक्षा सप्तशती

पूर्व-पीठिका

यन्नामधेयं हृदये दधाना, भवन्त्यवीरा अपि वीर्यभाजः ।
तमन्तिमं तीर्थपतिं सुभक्त्या, श्रीवर्धमानं प्रणिधिं नयेऽहम् ॥१॥[1]

वागीश्वराणामपि नाधिकारस्तन्मादृशां तत्र कथं प्रवेशः ।
तथापि शक्तिं ह्यविलोकमाना, भक्तिर्मुहुः प्रेरयते बलान्माम् ॥२॥

स्तनन्धयाना स्खलिताक्षरा वाक्, तात्पर्यवन्ध्यापि विभाति वल्गुः[2] ।
विलक्षणा भास्यति किं न मे गीः[3]-विभुं भजन्ती गतलक्षणाऽपि ॥३॥

क्रीडा न कुर्यात् किमु धूलिपुञ्जे, व्रीडां परित्यज्य शिशुः समन्तात् ।
हसन्तु वा मन्तु परे समोदा, स्वान्तःसुखायैव मम प्रयासः ॥४॥

मया किमप्यत्र विधीयते तद्, विभोः प्रभावो न ममानुभावः ।
उदञ्चितेऽर्के[4] सकलं प्रकाशि, निभालयेत्[5] किं निशि नेत्र-युग्मम् ॥५॥
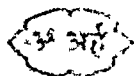
---

१ उपजातिवृत्तानि । २ मनोज्ञा । ३ वाणी ।
४ उदय प्राप्ते । ५ निभालयेत् ।

विशिष्टभावार्थ - परिस्फुटानि, चञ्चच्चरित्रेण विचित्रितानि ।
पुरा कवीशै. परिवर्णितानि, भव्यानि काव्यानि पृथग्विधानि[1] ॥६॥

तद् वर्णितु चेदहमल्पमेधा, धार्ष्ट्येण दु.साहममादधामि ।
हास्यास्पद निश्चितमेव भावि, सुशोभते शक्त्यनुगामि कार्यम् ॥७॥

तथापि किञ्चित्करवाणि वाणी, मुहुर्मुहुः प्रेरयतीव मन्ये ।
अन्ये तु लब्धावसरे 'कृतार्था.', कर्तव्यशून्येन मया किमास्यम्[2] ॥८॥

धनीश्वराणा सरसै रसैर्यज्, जाजायते भोजनमिष्टमिष्टैः ।
अनस्तिमान्[3] तावदह तु शुष्कै, क्रूरै स्वकुक्षि किमु नो विभर्मि ॥९॥

विमानमारुह्य धनी मनुष्य प्रलम्बमध्वानमुपैति पारम् ।
शनै शनैर्गम्यपदं यियासु[4]—र्जहाति यात्रा किमु पादचारी ? ॥१०॥

स्वत. पवित्र भगवच्चरित्र, मयेह नो वर्ण्यपदे विनेयम् ।
प्रभूपदिष्टा सुतरा विशिष्टा, शिक्षावलिं चेतुमह सचेष्ट ॥११॥

सवर्षता वारिमुचा सवेग, जलाकुले सत्यपि जीवलोके ।
स्युरात्मसात् काश्चन विप्रुषो[5] हि, तृषाकुलस्यापि नभोऽम्बुपस्य[6] ॥१२॥

पात्रानुरूपा किल वस्तुलब्धि, पात्रातिरिक्त प्रवहेद् वहिस्तात् ।
पिपीलिका किं नु भवेत्समर्था, कणद्वयी यद् युगपद् ग्रहीतुम् ॥१३॥

---

१ नाना प्रकाराणि ।
२ आसितव्यम् ।
३ अकिञ्चन ।
४ यातुमिच्छु ।
५ जलबिन्दव ।
६ चातकस्य ।

वगाहितुं यः क्षमते न सिन्धुं, तेनापि किं तत्पुलिनस्थितेन ।
उल्लोल - कल्लोल-जलौघमुक्ता, न सीकराः सोत्पुलकं निषेव्याः ? ॥१४॥

रसानुभूतिर्हि कणेन यादृग्, जाजायते प्रस्थमितेन[1] तादृक् ।
व्याजेन केनाऽपि नुतिः प्रभूणा, स्वल्पापि कल्याणकरी न शंङ्का ॥१५॥

---

1 [illegible] प्राचीन माप—३२ पल या १ सेर ।

'उत्कृष्टं मङ्गलं धर्मो,', देवार्येण निरूपितम् ।
तन्मूलान्येव सर्वाणि, मङ्गलानि चकासति ॥४॥

धर्मनीरेण संसिक्त: सुतरां मङ्गलद्रुम: ।
पुष्पित: फलितस्तद्वत्, शतशाखी च जायते ॥५॥

शुभयोगेन पुण्यानां, बन्ध: स्यादात्मना सह ।
पुण्यप्राचुर्यत: सार्वत्रिकं मङ्गलमुद्भवेत् ॥६॥

यन्नाममङ्गलं तद्वत्, स्थापनामङ्गलं स्मृतम् ।
द्रव्यादिमङ्गलं गौणं, प्रमुखं भावमङ्गलम् ॥७॥

तद् भावमङ्गलं श्रेष्ठं, चतुर्धा भिद्यतेतराम् ।
अर्हन्तो मङ्गलं, सिद्धा मङ्गलं साधवस्तथा ॥८॥

सर्वज्ञभाषितो धर्मो, मङ्गलं च समन्तत: ॥
सर्वविघ्नहरी ह्येषा, स्यान्मङ्गलचतुष्टयी ॥९॥

को हीदृशो जनो लोके, यो न मङ्गलमीहते ।
ऋते धर्मान्न तल्लभ्यं, धर्मं श्रयत भो जना: ! ॥१०॥

धर्म-स्वरूप-त्रयोदशकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म

सत्यं च पथ्यं शुभमात्मनीन, सनातन विश्वजनीनमग्रम् ।
धर्मस्य किं वास्तविकं स्वरूपं, जिज्ञासुना ज्ञेयमहो कथ तत् ? ॥१॥

नाना प्रकारा हि विचारधारा—स्तद्वद् विभिन्ना इह सम्प्रदाया ।
सर्वेऽपि सत्य स्वगत सुसम्यग्, निरूपयन्ते जगता पुरस्तात ॥२॥

इतीदृशे भूरि विवादमग्ने, भग्नस्वरूपे खलु धर्मभूपे ।
को धर्मपन्था सरल सुगम्यः, कथं बुधो निश्चयमादधीत ? ॥३॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच

[1]धर्मस्य प्रकटं रूपमहिंसा[2] संयमस्तप ।
सर्वेषा धर्मवाच्याना, समावेशो भवेदिह ॥४॥

भिद्यन्ता सम्प्रदायास्तु, न धर्मो भेदमावहेत् ।
सद्म-हर्म्य-कुटीरेषु, किमाकाशं विभिद्यते ? ॥५॥

प्रदीपो मृण्मयो वास्तु, रौप्य स्वर्णमयोऽपि वा ।
अस्तु काचमयस्तत्र, ज्योतिरेक विराजते ॥६॥
आधार-भिन्नताया नो, ज्योतिर्भेदो विलोक्यते ।
आधारहेतुक द्वन्द्वं, कुर्वते, मन्दबुद्धय ॥७॥

---

१ उपजाति वृत्तानि । २ दशवैकालिक १।१ ।

यत्राऽहिंसा महादेव्याश्छत्रच्छाया विराजते ।
साम्राज्यं तत्र धर्मस्य, ध्रुवमित्यवधार्यताम् ॥८॥

संयमेन विना तस्याः स्थितिर्नु नमसम्भवा ।
संयमोऽपि तपःशून्यो, न जातु स्थितिमश्नुते ॥९॥

त्रयाणां संगतिर्यत्र, धर्मः संगतिमङ्गति ।
विवेकचक्षुषा नित्यं, धर्मरत्नं परीक्ष्यताम् ॥१०॥

वैविध्यं वर्त्मना तत्र, गम्यमेकं विभासते ।
ज्ञानी मुह्यति नो तत्र, नामभिन्ने गुरुक्रमे[1] ॥

पूर्वभागाद् नदी काचित्, काचित् पश्चिमदेशतः ।
काचिद्दक्षिणकाष्ठात, काचिदुत्तरतः पुनः ॥१२॥
किन्तु सिन्धुं समाविष्टास्तास्ता नद्यः समन्ततः ।
भवन्त्येकार्णवीभूता, न भेदस्तत्र दृश्यते ॥१३॥

●

धर्म-फल-सप्तकम्

पुनर्जम्बू: पृच्छति स्म

योऽत्र धर्म निरतो निरन्तरं, तन्मयो ह्यतिशयेन तन्मना ।
किं फलं श्रयति तादृशो नरो, वर्णनीयमुदितं यथार्हता ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

किमुच्यते धर्मफलं जगत्या, शुभं सुखं यच्छिवमीक्ष्यतेऽत्र ।
सर्वाणि सद्धर्मतरोर्मधूनि, फलानि पुष्पाणि च पल्लवानि ॥२॥

धर्मे विनष्टे सकलं विनष्टं, धर्मे सुपुष्टे सकलं सुपुष्टम् ।
धर्मेण शून्यं सुतरामपुण्यं, किं जीवनं तन्मरणेन तुल्यम् ॥३॥

अनुत्तरं धर्मफलं समत्वं, द्वन्द्वातिरिक्तं शमनीरसिक्तम् ।
न वासना स्थानमुपैति तत्र, सर्वत्र शान्ति पदमादधाति ॥४॥

बाह्ये पदार्थे नहि तस्य दृष्टि र्वृष्टि सुधाया ध्रुवमात्मतत्त्वे ।
न गत्वरे तत्परता प्रयाति, ख्यातिर्हि तस्याक्षरपक्षदक्षा । ५॥

लाभाय देवान् प्रणमन्ति लोका , स्तुवन्ति नित्यं परिपूजयन्ति ।
धर्मैकनिष्ठ पुरुष सुभक्त्या, देवा अपि प्राञ्जलयो भवन्ति ॥६॥

नरे— सुरेश्वरेण, धनेश्वरेणापि बलेश्वरेण ।
पूज्य. सर्वैरपि धर्मधुर्यः, पर्याप्तमत्राधिकविस्तरेण ॥७॥

धर्म-मूलाष्टकम्

पुनर्जम्बूः पृच्छति स्म

[1]धर्मः सुखानां ध्रुवमूलमस्तीत्युदीरितं स्पष्टतया जिनेन्द्रैः ।
धर्मस्य मूलं किमु विद्यमानं, ज्ञातुं तदिच्छामि विभो सकाशात् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

प्रश्नः समीचीनतमस्त्वदीयो, [2]धर्मस्य मूलं विनयो विशिष्टः ।
अध्यात्मभूमिर्विनयाद् विहीना, धर्मप्रसूः क्वापि जायते न ॥२॥

क्षेत्रस्य शुद्धिर्नितरामपेक्ष्या, पश्चाद्धि बीजाकरणं फलाढ्यम् ।
सम्पद्यते सा विनयेन शुद्धि-स्तद् धर्ममूलं विनयो न्यगादि ॥३॥

यत्राभिमानो विनयो न तत्र, न नम्रता तत्र पदं लभेत ।
ज्ञानोपलब्धिर्नमनं विना नो, धर्मः कथं स्याद् वत बोधशून्यः ॥४॥

समर्पणं कर्तुमलं विनेयो, यः स्याद् विनम्रो मृदुभावकम्रः ।
समर्पितस्तन्मयतां प्रयाति, शिष्यो न शिष्यः स गुरुत्वमेति ॥५॥

विलोक्यतां वेत्रवती नदी नो, वेत्रान् समुत्पाटयितुं समर्था ।
तत्कारणं मार्दवमेव विद्धि, स्तब्धस्तु भेदं यायात् ॥६

---

[1] उत्तमानि वृत्तानि । २ दशवैकालिक, अ० ९ उ० २

ष्टं न किं स्पष्टतया तुलाया, नतं स्वतः स्याद् गुरु पल्लकं यत् ।
मुन्नति यल्लघुकं बिभर्ति, निदर्शनं तद् वरिवर्ति चारु ॥७॥

क्षेपतो यत्र नयश्चकास्ति, तत्रैव सत्ता विनयो दधाति ।
येन शून्याः खलु येऽविनीताः, प्रीताः कदाचिन्नहि साधनायाम् ॥८॥

क्या तराजू मे यह साफ-साफ नही दीखता कि जो पलडा भारी होता है, वह स्वय झुक जाता है, तथा जो पलडा हलका होता है, वह ऊपर हो जाता है। यह बडा सुन्दर उदाहरण है ॥७॥

जहाँ विशेष रूप से नय या नीति का अस्तित्व रहता है, वहाँ विनय स्वय आ जाता है। जो व्यक्ति नय और विनय—नीति और नम्रता से हीन होते हैं, वे साधना मे कभी प्रहृष्ट या सफल नही होते ॥८॥

□

धर्म-माहात्म्य चतुष्कम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म

[1]जरामरणवेगेन हि, भवार्णवे वाह्यमानजन्तूनाम् ।
कोऽस्ति द्वीपः शरणं, गतिः प्रतिष्ठेति जिज्ञासा ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

भवावर्तपतितानां, पथिच्युतानामलब्धतीराणाम् ।[2]
एक एव जिनधर्मः, सुतरां द्वीपायतेऽमुमताम् ॥२॥

धर्म एव गतितुल्यः, स हि प्रतिष्ठा च दुःखमग्नानाम् ।
धर्म एव शरणं ध्रुव-मनाश्रयाणां प्रकृष्टतमम् ॥३॥

बन्धुः सखा सहायः, स्वामी नाथोऽपि तद्विरहितानाम् ।
धर्म एव संसारे, कष्टहरः शान्तिदायी च ॥४॥

धर्म-माहात्म्य-चतुष्क

जम्बू ने फिर पूछा—

ससार रूपी समुद्र मे वृद्धावस्था तथा मृत्यु के प्रबल प्रवाह द्वारा वहाये जा रहे प्राणियो के लिए द्वीप, शरण, गति एव प्रतिष्ठा— टिकने का स्थान या आश्रय क्या है, मै यह जानना चाहता हूँ ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

जो ससार रूपी भवर मे गिरे हुए हैं, मार्ग-च्युत हैं, किनारा नही पा सके है, उन प्राणियो के लिए वीतराग प्ररूपित धर्म ही द्वीप के सदृश एकमात्र आश्रय है ॥२॥

धर्म ही (सबके लिए) गति के समान है, दु ख निमग्न प्राणियो के लिए वही टिकाव या सहारा है। जो अनाश्रित है, धर्म निश्चय ही उनके लिए सर्वोत्कृष्ट आश्रय है ॥३॥

धर्म ही अबन्धुओ का बन्धु, अमित्रो का मित्र, असहायको का सहायक, स्वामी तथा जिनके कोई नाथ—प्रतिपालक नही है—उनका नाथ है। धर्म ही ससार मे कष्ट-निवारक तथा शान्तिप्रद है ॥४॥

□

धर्म-माहात्म्य चतुष्कम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म

[1]जरामरणवेगेन हि, भवार्णवे वाह्यमानजन्तूनाम् ।
कोऽस्ति द्वीपः शरणं, गतिः प्रतिष्ठेति जिज्ञासा ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

भवावर्तपतिताना, पथिच्युतानामलब्धतीराणाम् ।[2]
एक एव जिनधर्म', सुतरा द्वीपायतेऽसुमताम् ॥२॥

धर्म एव गतितुल्य, स हि प्रतिष्ठा च दु.खमग्नानाम् ।
धर्म एव शरणं ध्रुव-मनाश्रयाणा प्रकृष्टतमम् ॥३॥

वन्धु' सखा महाय, स्वामी नाथोऽपि तद्विरहितानाम् ।
धर्म एव मसारे, कष्टहर शान्तिदायी च ॥४॥

धर्म-माहात्म्य-चतुष्क

जम्बू ने फिर पूछा—

ससार रूपी समुद्र मे वृद्धावस्था तथा मृत्यु के प्रवल प्रवाह द्वारा वहाये जा रहे प्राणियो के लिए द्वीप, शरण, गति एव प्रतिष्ठा— टिकने का स्थान या आश्रय क्या है, मैं यह जानना चाहता हूँ ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

जो ससार रूपी भवर मे गिरे हुए हैं, मार्ग-च्युत हैं, किनारा नही पा सके है, उन प्राणियो के लिए वीतराग प्ररूपित धर्म ही द्वीप के सदृश एकमात्र आश्रय है ॥२॥

धर्म ही (सबके लिए) गति के समान है, दु ख निमग्न प्राणियो के लिए वही टिकाव या सहारा है। जो अनाश्रित हैं, धर्म निश्चय ही उनके लिए सर्वोत्कृष्ट आश्रय है ॥३॥

धर्म ही अवन्धुओ का वन्धु, अमित्रो का मित्र, असहायको का सहायक, स्वामी तथा जिनके कोई नाथ—प्रतिपालक नही है—उनका नाथ है। धर्म ही ससार मे कष्ट-निवारक तथा शान्तिप्रद है ॥४॥

□

धर्मकरणोचितसमय-षट्कम्

पुनर्जम्बूः पृच्छति स्म—

[1]उचितः कोऽत्र समयो धर्मं कर्तुमिहात्मनः ।
प्रभो ! व्याख्यावर्ण्यतां किञ्चित्, प्रतिबोधो यथा भवेत् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

[2]त्रयो यामाः प्रोक्ताः प्रभुभिरिह धर्माय सुतरां,
यथाऽऽद्यो मध्यस्थस्तदिव पुनरन्त्योऽप्यनुदिनम् ।
प्रभाते मध्याह्नेऽन्तिमदिवसभागेऽपि सुकृतं[3],
नरः श्रोतुं मन्तुं प्रभवति तथाऽऽराधितुमपि[4] ॥२॥

लसद् बाल्यं रम्यं सहजमधु सारल्यतरलं,
अनारक्तं वस्त्रं विकृतिवृतिकृत्यादिरहितम् ।
यदुत्कृष्टो लाभः शिशुवयसि कश्चित् स्थिरमतिः
प्रसक्तो धर्मे स्यात् समधिगततत्त्वोऽत्र गजवत्[5] ॥३॥

प्रशस्तं बाल्यं चेदनवसिततत्त्वेन गमितं,
विचित्रक्रीडाभिः किमिह करणीयं न विदितम् ।
समर्थे तारुण्ये लसति पुनरन्त्योऽप्यवसरो,
यथा मध्याह्नेऽपि प्रभवति जनः कर्तुमतुलम् ॥४॥

---

१ अनुष्टुप् २ शिखरिणी छन्दांसि ३ धर्मम् । ४ स्थानाङ्ग ३ उद्देशक २ बोल २०६
५ गजसुकुमालवत् ।

धर्मकरणोचित-समय-षट्क

जम्बू ने फिर पूछा—

आत्मा को धर्म का आचरण करने का समुचित समय कौन सा है ? प्रभुवर ! कृपया कुछ कहे, जिससे मुझे इस सम्बन्ध मे ज्ञान हो सके ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

भगवान् ने हर रोज पहला, बीच का तथा अन्त का– तीनो पहर धर्माचरण के लिए उपयुक्त बताए हैं। मनुष्य प्रात, मध्याह्न तथा साय –तीनो समय धर्म का श्रवण, मनन, चिन्तन एव आराधन कर सकता है ॥२॥

बचपन अत्यन्त मनोरम, स्वभावत मधुर तथा सरल होता है। वह बिना रगे वस्त्र की तरह विकारपूर्ण कार्यों मे अछूता—उज्ज्वल होता है। यदि कोई स्थिरचेता—बालक सत् तत्त्व का अवबोध प्राप्त कर गजसुकुमार की तरह बाल्य अवस्था मे ही धर्म मे निरत हो तो वह उत्कृष्ट लाभदायी सिद्ध होता है ॥३॥

यदि निर्मल बाल्य काल मे यथार्थतत्त्व का बोध प्राप्त नही किया, तरह तरह के खेल-कूद मे बचपन गँवा दिया, यहाँ (ससार मे) करने योग्य क्या है, यह नही जाना। खैर, सामर्थ्य युक्त यौवन मे (धर्माचरण मे लगाने का) फिर एक अवसर आता है। यदि मध्यान्ह मे भी कोई पुण्य कार्य मे लग जाय तो वह अनुपम निष्पत्ति ला सकता है—अनूठा फल उपस्थित कर सकता है ॥४॥

गतं चेत्तारुण्य विविधविषयाशा - विलसितं,
न धर्मार्थं किंचित् प्रयतितमहो मन्दमतिना ।
अथान्त्ये वृद्धत्वे सहजशमिते साधुसमयः,
विधातुं सद्धर्मं यदि च मतिमान् कोऽपि यतते ॥५॥

त्रिसन्ध्य ये धर्मं विदधतितमा साधुचरिताः,
सुधन्याः पुण्यास्ते सुलभभवलाभा गुणिवराः ।
स्फुट तात्पर्यं यन्मिलति समयो यत्र च यथा,
शुभं कार्यं कार्यं सततमविकारि प्रभुवचः ॥६॥

※

तरह-तरह के भोगो की आशा और विलासिता में यदि युवावस्था चली गई, मन्द बुद्धि पुरुष ने धर्म के सन्दर्भ मे कुछ भी प्रयत्न नही किया तो जीवन के अन्तिम भाग—वार्द्धक्य मे, जो स्वभावत शान्त है, उसमे यदि कोई बुद्धिमान् पुरुष सद्धर्म का आचरण करे तो भी अच्छा है ॥५॥

तीनो सध्याओ मे—प्रात , मध्यान्ह एव साय जो साधुचरित— पवित्र चरित्र के धनी-सात्त्विक पुरुष धर्म का आचरण करते हैं, वे धन्य हैं, पुण्य है, गुणिश्रेष्ठ हैं। उन्होने ससार मे जन्म लेने का लाभ ले लिया। इसका स्पष्ट आशय यह है कि जब जहाँ समय मिले, विकार रहित भाव से शुभ कार्य अनवरत करते रहना चाहिए, ऐसा प्रभु महावीर का वचन है ॥६॥

अणुव्रतमहाव्रत—दशकम्

पुनर्जम्बू : पृच्छति स्म

[1]भगवन् ! विनयो मूलं, प्रभुणा कथितोऽत्र धर्मकल्पतरोः ।
भेदास्तस्य कियन्तो, विवेच्यमीषत्कृपां कृत्वा ॥ १ ॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

विनयमूलधर्मो ध्रुवमनगारागारभेदपरिभिन्नः ।
द्वैविध्यं स्वीकुरुते, पात्रविभागेन निर्व्यूढः[2] ॥ २ ॥

तत्रानगारधर्मे महाव्रतानां भवेत् समावेशः ।
पञ्चसंख्यया तानि, स्फुटमाख्यातानि जिनचन्द्रैः ॥ ३ ॥

कृतकारितानुमतिभिर्यन्नवकोटीविशिष्टघटितानि ।
महाव्रतान्युक्तानि हि, सार्वत्रिकसार्वभौमानि ॥ ४ ॥

तत्राहिंसा प्रथमं, सत्यमचौर्यं ततो लसद् ब्रह्म ।
अपरिग्रह इति तेषां, महाव्रतानामयुक् संख्या ॥ ५ ॥

आगारधर्ममध्ये, द्वादशव्रतवर्णनं परिस्फुरति ।
पञ्चाणुव्रतसंज्ञा, प्राथमिकानां वरीवर्ति ॥ ६ ॥

गुणव्रतानि त्रीण्यथ, कथितानि श्रावकार्यममलानि ।
शिक्षाव्रतानि पुनरिह, चत्वारि प्रोचिरे प्रभुणा ॥ ७ ॥

---

१ आर्यावृत्तानि   २ ज्ञाताधर्मकथा, अ० ५

अणुव्रत-महाव्रत-दशक

जम्बू ने फिर पूछा—

भगवन् ! (जैसा कि आपने कहा) प्रभु महावीर ने विनय को धर्म रूपी कल्प-वृक्ष का मूल बताया है। उस धर्म के कितने भेद हैं, कृपया संक्षेप में बतलायें ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

विनय-मूलक धर्म पात्र—गृहीता या पालक की दृष्टि से अगार (गृही) धर्म और अनगार (श्रमण) धर्म के रूप में दो भेदों में समाहित है ॥२॥

अनगार धर्म में महाव्रतों का समावेश है। वे संख्या में पाँच हैं, जो तीर्थंकरों द्वारा स्पष्टतया आख्यात—निरूपित हुए हैं ॥३॥

कृत, कारित तथा अनुमोदित के आधार पर वे नौ कोटियों—विकल्पों या उच्चतम सीमाओं की विशेषता के साथ गृहीत होने पर महाव्रत कहे जाते हैं। वे सर्वत्र—सब जगह—सर्वथा—सब प्रकार से सार्वभौम—निरपवाद रूप में पालनीय हैं ॥४॥

वे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के रूप में (संख्या में) पाँच हैं ॥५॥

आगार-धर्म के अन्तर्गत बारह व्रत वर्णित हुए हैं। उनमें पहले पाँच अणुव्रत कहे जाते हैं ॥६॥

प्रभु महावीर द्वारा श्रावक या गृही साधक के लिए तीन अमल—निर्मल या पवित्र गुणव्रत तथा चार शिक्षा व्रत कहे गये हैं ॥७॥

तत्र च महाव्रतानि, स्वीकुर्वाणो मुनि समाख्यातः।
अणुव्रतानि प्रकटं, प्रतिपन्नः श्रावको भणितः ॥ ८ ॥

स्त्रीपु भेद-विभिन्नौ, द्वावप्येतौ विशिष्टगुणयुक्तौ।
तीर्थचतुष्टयमध्ये, स्थानं प्राप्तौ समानतया ॥ ९ ॥

तीर्थं प्रवचनमाहु—राधारत्वादमूनि पुण्यानि।
चत्वार्यपि तीर्थानि हि, तत्कर्ता तीर्थकृत् ख्यात ॥ १० ॥

□

इनमे जो महाव्रत स्वीकार करता है, वह मुनि या साधु तथा जो प्रकट तथा-निश्चित मर्यादापूर्वक अणुव्रत स्वीकार करता है, वह श्रावक कहा गया है ॥८॥

व्रतात्मक विशिष्ट गुणो को स्वीकार करने वाले दोनो प्रकार के साधक-स्त्री और पुरुष (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप) चतुर्विध धर्म तीर्थ मे समान रूप मे प्रतिष्ठित हैं ॥९॥

वास्तव मे ज्ञानियो ने प्रवचन को तीर्थ कहा हैं । साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका चारो पवित्र अधिकारी उसके आधारभूत हैं, अत ये तीर्थ सज्ञा मे आते हैं । अर्थात् उपचार से इन्हे तीर्थ कहा गया है । जो उस (तीर्थ) के प्रतिष्ठापक होते हैं, वे वीतराग भगवान् तीर्थकृत् या तीर्थकर कहे जाते हैं ॥१०॥

□

जागृत्यष्टकम्

पुनर्जम्बू : पृच्छति स्म

[1]कथ चरेन्नाथ ! कथं च तिष्ठेत्, कथं तथासीत कथं शयीत ?
भुञ्जीत भाषेत कथं यथा नो, स्यात् पापबन्ध खलु साधकस्य ॥ १ ॥

यावच्छरीर चरणादिकृत्यं, यथाकथंचित्करणीयमेव ।
संभाविता तत्र कथ न हिंसा, स्यात्पापबन्धो व्रतिन कथ न ? ॥ २॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच —

[2]यत्नेन गच्छेच्च तथैव तिष्ठे—दासीत यत्नेन तथा शयीत ।
भुञ्जीत भाषेत तथा सयत्नं, यथा न बन्ध किल किल्विषस्य ॥ ३ ॥

न केवलं मारणमेव हिंसा, प्रमत्तयोगाचरणं हि हिंसा ।
तत्त्वं निगूढं वरिवृत्यतेऽत्र, विवेकिगम्यं नहि चापरेण ॥ ४ ॥

कार्यं कथं चारुपथ प्रयायात्, प्रतारण कारणमेति यावत् ।
ज्ञातं यदा कारणमन्तरङ्गं, कार्यं तदानी विदितं स्वत· स्यात् ॥ ५ ॥

निदानशून्या[3] हि यथा चिकित्सा, स्वास्थ्यप्रदा कह्यपि जायते न ।
स एव वैद्यप्रवरो यशस्वी, चिकित्सते यो सनिदानमामम्[4] ॥ ६ ॥

---

१ उपजाति वृत्तानि
२ दशवैकालिक अ० ८ गाथा० ७-८
३ निदानमादिकारणम् ।
४ रोगम् ।

जागृति-अष्टक

जम्बू ने फिर पूछा—

भगवन् ! साधक कैसे चले, कैसे खड़ा हो, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे खाये तथा कैसे बोले, जिससे उसके पाप का बन्ध न हो ॥१॥

जब तक शरीर है तब तक चलना आदि कृत्य—कर्म जिस किसी रूप में करने ही होते हैं। फिर वहाँ हिंसा की सम्भावना किस प्रकार नहीं है, व्रती साधक के पाप का बन्ध कैसे नहीं होता ?।२॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

यत्न—जागरूकता—सावधानी से चलना, खड़ा होना, सोना, खाना तथा बोलना चाहिए। इससे पाप का बन्ध नहीं होता ॥३॥

केवल मारना ही हिंसा नहीं है। वस्तुत प्रमत्त-प्रमाद पूर्ण योग—मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्ति में सलग्न होना ही हिंसा है। यह बड़ा गहरा तत्त्व है। इसे विवेकशील व्यक्ति समझ सकता है, अविवेकी नहीं ॥४॥

यदि कारण में प्रतारणा या दोष है तो कार्य सुन्दर-पथ का अवलम्बन कैसे कर सकता है, अर्थात् पवित्र कैसे हो सकता है ? जब आन्तरिक कारण को जान लिया, तब कार्य स्वय विदित हो जाता है ॥५॥

जैसे, बिना निदान (रोग के कारण की गवेषणा) के जो चिकित्सा की जाती है, वह कदापि आरोग्यप्रद नहीं हो सकती। जो निदानपूर्वक रोग की चिकित्सा करता है, वही उत्तम वैद्य या चिकित्सक होता है। यही स्थिति कारण व कार्य के सम्बन्ध में है ॥६॥

सुप्तेन तुल्यो मनुजो ह्यजाग्रद्, का भिन्नता तत्र शुभाशुभस्य ।
हिंसाप्यहिंसाऽवहितस्य भिक्षोर्भवेदहिंसा ह्यपरस्य हिंसा ॥ ७ ॥

'जयंचरे' यत्कथितं जिनेन्द्रै—स्तत्रावधानस्य विशेषतास्ति ।
आचर्यते यन्मनुजेन किञ्चित्, समुज्ज्वलं जागरणेन तत् स्यात् ॥ ८ ॥

जो मनुष्य जागृत—करणीय मे विवेकशील नहीं है, वह सोये हुए के समान ही है। वह शुभ-पुण्य तथा अशुभ-पाप का क्या भेद करे। जो श्रमण सावधान या जागरूक है, उसके लिए हिंसा भी अहिंसा हो जाती है तथा जो अजागरूक है, उसके लिए अहिंसा भी हिंसा का रूप ले लेती है ॥७॥

जिनेन्द्र भगवान् ने 'जय चरे' ऐसा जो कथन किया, वहां सावधानी या जागरूकता की विशेषता है। मनुष्य जो कुछ आचरण करता है, यदि वह (मनुष्य) जागृत है तो वह आचरण—कर्म, उज्ज्वल या पुनीत होता है ॥८॥

※

त्यागिव्याख्यान-षट्कम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]त्यागस्य माहात्म्यमतीव शास्त्रे, वेविद्यते देव ! बहुप्रकारैः ।
परन्तु को वस्तुतया मुनीन्द्र—स्त्यागीति शब्देन विशेषणीयः ? ॥ १ ॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

त्यागो महत्ता हि बिभर्ति गुर्वी गृह्णाति चेद् वास्तविकं स्वरूपम् ।
न द्रव्यतो गौरवमेति किंचिद्, भावात्मकः सोऽतितरां विशिष्टः ॥ २ ॥

वस्त्रं तथा गन्धमलंकृतिं च, स्त्रियश्च शय्यादिकवस्तुजातम् ।[2]
भुनक्तिनाच्छन्दतया च योऽत्र, त्यागीति संज्ञां लभते न जातु ॥ ३ ॥

लब्धान् प्रियान् कान्ततमांश्चभोगान्, यः पृष्ठतः कर्तुमलं स्वतन्त्रान् ।
त्यागी स एवेति जिनस्य वाणी, त्यागोऽपि तत्रैव सुजाघटीति ॥ ४ ॥

अलब्धभक्ष्यस्य किमूपवासैः, किं ब्रह्मचर्येण जरार्दितस्य ।
मौनेन किं वक्तुमशक्तिभाज—स्त्यागो न तादृक्षु महत्त्वमेति ॥ ५ ॥

आसक्तिमन्तः परिसर्पिणी हा ! यावन्न चान्तःकरणं जहाति ।
त्यागेन किं तेन बहिर्भवेन, स्ववञ्चनं वेति जिनैरभाणि ॥ ६ ॥

---

१ उत्तराध्ययननिर्युक्ति । २ दशवैकालिक, अ० २ गाथा २-३ ।

त्यागि-व्याख्यान-षट्क

जम्बू ने फिर पूछा –

देव ! शास्त्र में त्याग का महत्त्व अनेक प्रकार से विशद रूप में वर्णित हुआ है। कृपया बतलाएँ वस्तुतः किस मुनि को त्यागी शब्द से विशेषित किया जा सकता है ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

यदि त्याग वास्तविक - यथार्थ रूप में हो तो उसकी बहुत बड़ी महत्ता है। त्याग यदि केवल द्रव्य-दृष्टि—बाह्य दृष्टि से हो तो उसका महत्त्व नहीं है, भावात्मक (आन्तरिक) त्याग की ही अत्यधिक विशेषता है ॥२॥

जो अच्छन्द—परवश होने के कारण वस्त्र गन्ध-सुगन्धित पदार्थ, स्त्रियाँ तथा शय्या आदि का भोग नहीं करता है, वह कभी भी 'त्यागी' नहीं कहा जाता है ॥३॥

जो मुनि प्राप्त हुए स्वाधीन प्रिय तथा अत्यन्त सुन्दर भोगों को ठुकराने में समर्थ है, वीतराग-वाणी के अनुसार वही त्यागी है। वहीं पर त्याग यथार्थ रूप में घटित होता है ॥४॥

जिसे भोग्य पदार्थ प्राप्त नहीं हैं, उसके कैसे उपवास ! जो बुढ़ापे से जर्जर है, उसका कैसा ब्रह्मचर्य ! जिसमें बोलने की शक्ति ही नहीं है, उसका कैसा मौन ! ऐसे (तत्तत्-शक्तिशून्य) व्यक्तियों के (तथाकथित) त्याग का कोई महत्त्व नहीं है ॥५॥

तीर्थंकरों ने कहा है कि जब तक अन्तःकरण अपनी वृत्तियों में व्याप्त आसक्ति का त्याग नहीं करता, मन से वह (आसक्ति) अपगत नहीं होती – नहीं निकलती, तब तक बाह्य त्याग से क्या बनेगा ? वह तो एक प्रकार से आत्म-वञ्चना-अपने आपको धोखा देने का रूप है ॥६॥

ज्ञानक्रिया-नवकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]क्रिया विशिषन्ति नरोऽत्र[2] केचिज्, ज्ञानं हि केचित्तु विशेषयन्ति।
कथं समाधानमियर्ति मादृग्, विवर्ण्यतां किंचिदधीश्वरेण ॥ १ ॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

क्रिया विबोधा कथिता गताक्षा[3], क्रियाहतं ज्ञानमपीह पङ्गु।
सम्मील्य चोभे हि सुलब्धशोभे, नैकेन चक्रेण रथः प्रयाति ॥ २ ॥

चिकीर्षितं कार्यमलक्षितं चेदहेतुकं किं करणेन तस्य?
गम्यं पदं निश्चितमस्ति चेन्नो, प्रवासिनः किं गमनेन तेन? ॥ ३ ॥

न धावने काऽपि विशेषताऽऽस्ते, दिशावबोधो यदि नास्ति सम्यक्।
निर्णीय गन्तव्यपथं यियामो[4], शनैः शनैर्यानमपि प्रशस्तम् ॥ ४ ॥

प्रायो नृणामद्यतने तु काले, विवेकहीना गतिरर्थवन्ध्या।
लाभोपलब्धिर्न तयाऽस्ति कापि, किमुच्यते प्रत्युत हानिरेव ॥ ५ ॥

क्रियाविहीनोऽपि तथैव बोधो, योधो यथा शक्तिविशेषशून्यः।
कोलाहलं केवलपुस्तकीयं, निर्वृष्टिकं गर्जनमेव यद् वा ॥ ६ ॥

---

१ उपजाति वृत्तानि
२ बहुवचनम्।
३ मगनिर्णीय अ० १।३३।
४ स्थानांग २।१

ज्ञानक्रिया-नवक

जम्बू ने फिर पूछा—

कई व्यक्ति यहाँ त्याग की विशेषता बतलाते है तथा कई ज्ञान की। मेरे जैसा (साधारण) व्यक्ति कैसे समाधान पाये, प्रभो! कृपया विवेचन करे ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

ज्ञान-रहित क्रिया नेत्रहीन—अन्धी कही गई है, क्रिया रहित ज्ञान पगु है। दोनो के मिलने मे ही शोभा-सुन्दरता-उपादेयता है। एक पहिये से रथ नही चलता ॥२॥

कोई लक्ष्य के बिना कार्य करना चाहे तो वह निष्प्रयोजन है। उसके करने मे क्या? यदि गन्तव्यस्थान या मंजिल निश्चित नही है तो पथिक के चलते रहने से क्या सधेगा? ॥३॥

यदि दिशा का भली भांति ज्ञान नही है तो दौडते जाने मे कोई विशेषता नही है। जो गन्तव्यमार्ग या लक्ष्य का निर्णय करके धीरे-धीरे भी चलता जाता है तो उसका चलना उत्तम है ॥४॥

आज के समय मे प्राय लोगो की गति-उद्यम विवेकशून्य है। अत उससे कोई अर्थ—प्रयोजन नही सधता। क्या कहे, उनसे कोई लाभ तो होता ही नही है, प्रत्युत हानि ही होती है ॥५॥

जैसे एक योद्धा विशिष्ट शक्ति से रहित होता है, वही स्थिति क्रिया रहित ज्ञान की है। केवल पुस्तकीय ज्ञान-किताबी ज्ञान (किताबी कोरा) बादलो के उस गर्जन जैसा है, जो बिलकुल नही बरसते ॥६॥

किं भक्ष्यबोधादुदरस्य पूर्ति, किं यानबोधात्पुरगोपलब्धिः।
कृत्यार्पितं ज्ञानमिहोपयोगि, क्रियाहतं ज्ञानमनर्थकारि ॥ ७ ॥

न पाठतोऽभ्यस्तरणस्य विद्या, संगच्छते तत्कृतिमन्तरेण।
नीरे निमग्नो हि विबोधमेति, सचालनाद्धस्तपदादिकानाम् ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षदर्शी ह्यनुबोभवीति, यथा तथा नो किल चित्रदर्शी।
बोधानुभूति सुतरां क्रियाया, तस्मादुभाभ्या भवितव्यमेव ॥ ९ ॥

ॐ

क्या खाने के पदार्थों को जान लेने से पेट भरता है? क्या वाहन की पुकार से अश्व प्राप्त हो सकता है? संसार में वही ज्ञान वास्तव में उपयोगी है, जो क्रिया के साथ जुड़ा है। जिस ज्ञान के साथ क्रिया नहीं है, वह अनर्थोत्पादक है ॥७॥

केवल पढ़ लेने से जल पर तैरने की विद्या, जब तक क्रियात्मक रूप से उसका अभ्यास नहीं हो जाता, नहीं आती। पानी में गोता लगाता व्यक्ति जब हाथ पैर चलाता है, तभी उसे इस रहस्य का पता चलता है ॥८॥

जो किसी वस्तु को आंखों से देखता है, उसको उसकी जैसी अनुभूति होती है, वैसी उसका चित्र देखने वाले को नहीं होती। क्रिया से ही ज्ञान की यथार्थ अनुभूति होती है। इसलिए ये दोनों—ज्ञान और क्रिया समन्वित होने चाहिए ॥९॥

कर्मवीज-नवकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]समस्तकर्मक्षय एव मोक्षो, जैनागमाना स्फुटमस्ति घोष ।
तत्कर्मवीज प्रभुणा किमुक्तमकारणं नो किमपीह कार्यम् ॥ १ ॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

[2] रागद्वेषौ कर्मणा[3] वीजमस्ती—त्युक्तं शास्त्रे नेतरत् किञ्चिदस्ति ।
यावत्सत्ता विभृयातामुभौ तौ, तावद् वन्ध कर्मणा निश्चयेन ॥ २ ॥

हन्ताष्टाना कर्मणा मोहनीय, स्वामित्वेनावर्तते दुर्निवारम् ।
रागद्वेषौ तद्भवौ तत्र सक्तो, भ्रान्तो जीव संसृतौ वम्भ्रमीति ॥ ३ ॥

मायालोभौ रागतत्त्वात् प्रजातौ, तद्वद् द्वेषात् क्रोधमानौ प्रवृद्धौ ।
एवं चत्वार कषाया स्वसत्ता, व्याकुर्वाणा दुःखयन्ते त्रिलोकीम् ॥ ४ ॥

के केऽनर्था क्रोधयोगाज्जगत्या, जन्यन्ते नो मानवै क्लेशदाया ।
क्रोधात् तप्तिर्मानिसे चाथ देहे, क्रोधावेग सर्वथा वर्जनीय ॥ ५ ॥

एव मानी मानयोगात्स्वमौलिमूर्ध्वीकुर्वन् मानहानि प्रयाति ।
निर्माना सम्माननीया भवेयु—श्चिन्त्य तावत्तत्त्वमत्रास्ति गुह्यम् ॥ ६ ॥

---

१ उत्तरार्धावृत्तम् । २ शालिनीवृत्तानि ।
३ उत्तराध्ययन अध्ययन ३२ गाथा ७

कर्मबीज-नवक

जम्बू ने फिर पूछा—

जैन आगमों की यह स्पष्ट घोषणा है कि समग्र कर्मों का क्षय ही मोक्ष है। भगवान् ने कर्म का बीज—कारण क्या बतलाया है, (कृपया कहें) क्योंकि कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

राग और द्वेष कर्मों के बीज हैं, शास्त्र में यह कहा गया है। इनके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं। जब तक इन दोनों की सत्ता—अस्तित्व बना रहता है—जब तक राग-द्वेषात्मक वृत्ति से प्राणी नहीं छूटता, तब तक निश्चित रूप से कर्म बंधते जाते हैं ॥२॥

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सबका स्वामी या सब में प्रधान है। उसका निवारण बहुत कठिन है। राग और द्वेष उसी से उद्भूत—निष्पन्न होते हैं। उसमें आसक्त बना जीव भ्रान्त होकर संसार में भटकता रहता है ॥३॥

राग तत्त्व से माया—छल तथा लोभ उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार द्वेष से क्रोध और मान उगते हैं। इस प्रकार ये चार कषाय जब तक अपनी सत्ता लिये रहते हैं—विद्यमान रहते हैं, जीवों—लोगों को दुःखित बनाते जाते हैं ॥४॥

संसार में क्रोध के वश हुए मनुष्य किन-किन दुःखप्रद कार्यों—दुष्कर्मों को नहीं करते? क्रोध से देह में और मन में परितप्ति (गर्मी—तेजी) उत्पन्न होती है—वे असन्तुलित हो जाते हैं। इसलिए क्रोध के आवेग का सर्वथा वर्जन करना चाहिए—उसके वश नहीं होना चाहिए ॥५॥

मानी या अहंकारी अभिमान के कारण अपना मस्तक ऊँचा किये रहता है, पर उसका परिणाम मान-हानि में आता है। जो व्यक्ति मान-शून्य—निरहंकार होते हैं वे आदर पाते हैं। इसमें गहरा रहस्य है, जिसका चिन्तन किया जाना चाहिए ॥६॥

तद्वन्माया वक्त्रपाया सुभीमा, नानामिथ्यावञ्चनाभिः प्रपञ्च्या।
साध्यं यत्र स्यान्निजस्यापि नैव, तत्कार्यं हन्तार्ययोग्यं कथं स्यात् ॥ ७॥

एवं लोभः क्षोभदः स्पष्टमेव, नानारूपः प्राणिनां वर्ततेऽत्र।
किं तत्पापं यन्न जायेत लोभाद्, दुस्त्याज्योऽयं सर्वथानर्थकारी ॥ ८॥

एवं रागद्वेषतः कर्मवल्ली, लब्धोत्कर्षा पुष्पितायो फलाढ्या।
भुञ्जाना संसारिणस्तत्फलानि, भूयो भूयो हा! भवाब्धौ भ्रमन्ति ॥ ९॥

इसी तरह माया अनेक बुराइयों से भरी है, भयावह है। अनेक झूठी प्रवचनाओं में उसे गढ़ना होता है। जिस कार्य में (जिसकी सचाई में) अपनी अन्तरात्मा भी साक्षी नहीं देती, वह कार्य आर्य—उत्तम जनों के योग्य कैसे हो सकता है? ॥७॥

इसी प्रकार लोभ, जो अनेक रूपों में विद्यमान है, स्पष्ट है—संसार में प्राणियों को क्षुब्ध—विचलित करता रहता है। वह कौन सा पाप है, जो लोभ से उत्पन्न नहीं होता। लोभ सदा अनर्थ उत्पन्न करता है। उसे छोड़ना बहुत कठिन है ॥८॥

यों राग और द्वेष से कर्मों की बेल बढ़ती है, फूलती तथा फलती है। सांसारिक व्यक्ति उसके फलों को खाते हुए—कर्म फल भोगते हुए पुन पुन संसार-समुद्र में भटकते है ॥९॥

※

सुखीभवन-दशकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]सर्वे सुखाय चेष्टन्ते, जन्तवो जगतीतले ।
कथं सुखी भवेज्जीव., कृपा कृत्वा विवर्ण्यताम् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

किं सुखं वस्तुतो लोके, किं दु खं वस्तुत पुन ।
यावन्न ज्ञायते तावत्, सुखावाप्तिर्भवेत् कथम् ॥२॥

आपातरमणीयं यत्, परिणामे भयावहम् ।
तत्सुखं ज्ञानिभिर्नोक्तं, सुखाभास हि केवलम् ॥३॥

सुखं पौद्गलिक यद् यत्, तत्संयोगवियोगजम् ।
इष्टानिष्टार्थ-संलग्नं, लाभालाभसमुद्भवम् ॥४॥
कल्पनालोकमधुरं, मृगतृष्णानिभ मतम् ।
सिन्धु कल्लोलवत् पीन.पुन्येन नवरूपभृत् ॥५॥

तत्सुखं प्राप्नुवन् जन्तु., कथ नु सुखितो भवेत् ।
पूर्वं सुखीति मन्वान , पश्चाद् दु खीव शोचति ॥६॥

यावदाध्यात्मिकं सौख्य, नात्मना परिलक्षितम् ।
तावद् बाह्यार्थ-मसक्त , कथं स्यादसुमान् सुखी ॥७॥

---

१ अनुष्टुब् वृत्तानि ।

सुखीभवन-दशक

फिर जम्बू ने पूछा—

इस संसार में सभी प्राणी सुख के लिए प्रयत्नशील हैं। कृपया बतायें, जीव कैसे सुखी हो सकता है ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

संसार में वास्तव में सुख क्या है और दुःख क्या है, जब तक इसका ज्ञान नहीं होता, तब तक सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ॥२॥

जो आपातरमणीय—प्राप्त होते ही जो सुन्दर लगता है, पर जिसका परिणाम भयजनक है, ज्ञानियों ने उसे सुख नहीं कहा है। वह केवल सुखाभास—सुख की कल्पित झलक है ॥३॥

जो पुद्गलों या भौतिक पदार्थों के संयोग-वियोग से उत्पन्न होता है, वह पौद्गलिक सुख है। वह प्रिय और अप्रिय अर्थ-प्रयोजन से जुड़ा है, लाभ—इच्छित-प्राप्ति और अलाभ—इच्छित अप्राप्ति से यह उत्पन्न होता है। इसमें सांसारिक जगत् की मधुरिमा है, वह मृगतृष्णा के समान मिथ्या—अयथार्थ है। समुद्र की तरंगों की तरह वह पुनः पुनः नये रूप धारण करता है ॥४-५॥

उस सुख को पाता हुआ प्राणी कैसे सुखी हो सकता है? वह पहले अपने आप को सुखी मानता है और बाद में (विपरीत फल-विपाक होने पर) दुःखित व शोकान्वित हो जाता है ॥६॥

प्राणी जब तक आध्यात्मिक सुख को स्वयं लक्षित नहीं कर लेता—उसे प्राप्त करने का लक्ष्य नहीं बना लेता—तब तक वह बाहरी अर्थों में आसक्त बना रहता है, सुखी कैसे होगा? ॥७॥

देहासक्ति ततस्त्यक्त्वा, तपसा तापय स्वकम् ।
सौकुमार्यं परित्यज्य, श्रमणत्वे भवोद्यत ॥८॥

कामान् क्राम मुने । कृत्स्नानिन्द्रियार्थ-समुद्भवान् ।
यदि क्रान्ता इमे कामा, दुःखं क्रान्तं त्वया खलु ॥९॥

छिन्धि द्वेषं तथा रागं, दूरतोऽपनय द्रुतम् ।
एवं जीवनसंग्रामे, सुखितस्त्वं भविष्यसि ॥१०॥

□

देह की आसक्ति छोडकर अपने आपको तप में तपाओ—उज्ज्वल बनाओ। सुकुमारता—अमीरी का परित्याग कर श्रमण-जीवन के परिपालन में उद्यत बनो, समस्त इन्द्रियों के विषयों में उत्पन्न होने वाली कामनाओं को जीतो। यदि कामनाओं को जीत लिया तो तुमने दुःख को जीत लिया। द्वेष का छेदन-ध्वंस करो राग को अविलम्ब दूर से ही हटा दो। इस प्रकार जीवन संग्राम में तुम सुखी बनोगे।

॥८।६।१०॥

परिग्रह-स्वरूपवर्णन-नवकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]व्याख्यास्ति का देव ! परिग्रहस्य, कथं मुनिर्यात्यपरिग्रहित्वम् ।
यावत् सदेहः सकलं विहातुकामोऽपि किं स्यात् सकलार्थहाता ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

[2]मुनिना निर्ग्रन्थेन हि, भवितव्यं द्रव्यभावरूपेण ।
निर्ग्रन्थधर्मसेवी, विदितोऽभूदार्हतो लोके ॥२॥

परिग्रहो यन्नवधा, विवेचितो बाह्यवस्तुपरिकरितः
क्षेत्रवास्तुधनधान्यादिकभेदैर्भूरिविस्तार ॥३॥

आभ्यन्तरस्तथैव च, मिथ्यात्वाविरतिरोपसंकीर्णः ।
यद् ध्रुवमनन्तकालात्, संवलितो भिन्नभावेन ॥४॥

मूर्च्छितोऽस्ति जीवोऽय, द्विविधोक्त-परिग्रहेषु संसक्त ।
मूर्च्छा परिग्रह [3] किल, तेनोक्तो ज्ञानिभि· शास्त्रे ॥५॥

बाह्ये परिग्रहेष्वथ, निर्मुक्तो दुस्त्यजस्तथापीतरः ।
मुक्ते निर्मोकेऽपि हि, नहि फणभृद् निर्विषो भवति ॥६॥

---

१ उपजाति वृत्तम् ।
२ आर्यावृत्तानि ।
३ दशवैकालिक, अ ६ गाथा २१ ।

परिग्रह-स्वरूपवर्णन-नवक

जम्बू ने फिर पूछा—

भगवन् ! परिग्रह की क्या व्याख्या है ? मुनि किस प्रकार अपरिग्रहवृत्ति का साधता है—अपरिग्रही हो सकता है ? सब कुछ छोड़ने की इच्छा होने पर भी जब तक देह है, तब तक क्या सब वस्तुओं का परित्याग सध सकता है ? ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

मुनि को द्रव्यात्मक दृष्टि और भावात्मक दृष्टि से निर्ग्रन्थ—ग्रन्थि या गाँठ रहित होना चाहिए—वासना-रहित सहजावस्थान्वित होना चाहिए । इसी कारण प्राचीन काल में जैन लोग निर्ग्रन्थ धर्म के उपासक कहे जाते थे ॥२॥

बाह्य वस्तुओं के आधार से परिग्रह नौ प्रकार का कहा गया है । क्षेत्र भूमि आदि, वास्तु-भवन आदि तथा धन, धान्य प्रभृति भेदों से उसका व्यापक विस्तार है—वह व्यापक रूप में फैला हुआ है ॥३॥

आभ्यन्तर परिग्रह—मिथ्यात्व—सत् तत्त्व का अश्रद्धान, अविरति—त्याग से विरत नहीं होना, तथा दोष—क्रोध आदि के रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार से अनन्त काल से प्राणी के साथ जुड़ा है ॥४॥

उपर्युक्त दो प्रकार के परिग्रह में आसक्त प्राणी मूर्च्छा—आत्म स्वरूप को भूले रहता है । इसीलिए ज्ञानियों ने शास्त्र में "मूर्च्छा परिग्रह" ऐसा कहा है ॥५॥

बाह्य परिग्रह को छोड़ देने पर भी आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ना बहुत कठिन है । केंचुल के त्याग देने पर भी सांप निर्विष नहीं होता ॥६॥

वाह्यार्थाना त्यागं, विदधति मुनयो ममत्वमुक्त्यर्थम् ।
देहे किमु न ममत्वं, संभाव्य दुस्त्यजं तेपाम् ॥७॥

प्रियं देहसंकाशं, किमपि न विश्वे चकास्ति विश्वस्मिन् ।
कथमिव तस्य त्याग., संभवतीति क्षण चिन्त्यम् ॥८॥

तेन तत्त्वतो मूर्च्छा, त्यक्तव्या ज्ञानिना विशेपेण ।
यदन्तरङ्गे त्यागे, वाह्योऽपि प्राणवान् भवति ॥९॥

❀

ममत्व से छूटने के लिए मुनि बाह्य पदार्थों का त्याग कर देते हैं। पर इस देह, जिसे छोड़ना बहुत कठिन है, से भी ममत्व सम्भावित नहीं है ॥७॥

समग्र जगत् में देह के समान कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है। आप स्वयं विचार करें, क्या उसका त्याग कहीं सम्भव है? ॥८॥

इसलिए ज्ञानी को विशेषतः मूर्च्छा — पर-पदार्थ में मोहग्रस्त होने का भाव त्यागना चाहिए। आभ्यन्तर त्याग से बाह्य त्याग भी प्राणवान् होता है ॥९॥

卐

परिग्रहत्रिकाष्टकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]त्रिविधः प्रभुणा प्रोक्तः, कथंकारं परिग्रहः।
रहस्यं किमु तत्रास्ति, वर्णनीय यथाश्रुतम् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

भेदैर्बाह्यान्तरैरस्य, व्याख्या पूर्वं श्रुता त्वया।
तत्त्वदृष्ट्या समासेन, त्रिधा प्रोक्त परिग्रहः[2] ॥२॥

कर्मणा मोहनीयादेर्बन्ध कर्मपरिग्रह।
आसक्तिर्या शरीरेऽस्ति, स शरीरपरिग्रह ॥३॥

भण्डोपकरणे बाह्ये, ममता तत्परिग्रहः।
एव त्रिपु भेदेपु, सर्वे भेदा विशन्ति ते ॥४॥

वस्तुत पुण्यपापाना, शृङ्खला या च वर्तते।
तस्या निगडितो जीवो, दुःखी नित्यं परिग्रही ॥५॥

कर्मणा योगतो नून, देहावाप्ति पुन पुन।
देहमोहोऽपि दुस्त्याज्य, सोऽपि घोरपरिग्रहः ॥६॥

भण्डोपकरणादीना, बाह्या सग्रहणे रति।
लाभालाभे सुख दुखं, स तु स्पष्ट परिग्रह ॥७॥

वस्तुजाते यदा बाह्ये, पूर्णा मूर्च्छा निवर्तते।
सर्वबन्धन-मुक्तोऽत्र, स सिद्धो निष्परिग्रह ॥८॥

---

१ अनुष्टुब् वृत्तानि। २ स्थानाङ्ग ३ उ १ सूत्र १८८।

परिग्रहत्रिक-अष्टक

जम्बू ने फिर पूछा—

जिनेश्वर भगवान् ने तात्त्विक दृष्टि से परिग्रह की क्या व्याख्या की है, जैसा आपने सुना, कृपया बतलाएं ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

बाह्य तथा आन्तरिक भेदों से परिग्रह की व्याख्या पहले तुम सुन चुके हो। तात्त्विक दृष्टि से संक्षेप में यहाँ तीन प्रकार का परिग्रह बताया है ॥२॥

मोहनीय आदि कर्मों का बन्ध कर्म-परिग्रह है। जो शरीर में आसक्ति है, वह शरीर-परिग्रह है ॥३॥

भण्डोपकरण—पात्र, वस्त्र आदि घर के उपकरण साज, सामान एवं बाह्य पदार्थों में जो ममता है, वह बाह्य परिग्रह है, अर्थात् भण्डोपकरणपरिग्रह है।

इस प्रकार इन तीनों भेदों में ये सब भेद समाविष्ट हो जाते हैं ॥४॥

वस्तुतः पुण्य और पाप की जो शृङ्खला विस्तार है, उससे बंधा हुआ और लिप्त हुआ ही, परिग्रही है ॥५॥

कर्मों के योग से बार-बार देह धारण करना पड़ता है। देह के मोह का त्याग बहुत कठिन है। यह भी घोर परिग्रह है ॥६॥

भण्डोपकरण आदि के संग्रह में अनुरक्तता, लाभ-अलाभ में सुख-दुःख—स्पष्ट ही यह परिग्रह है ॥७॥

जब बाहरी पदार्थों में पुनः मूर्च्छा या आसक्ति मिट जाती है, तब और सब बन्धनों से मुक्त तथा सर्वथा परिग्रह शून्य होकर सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है ॥८॥

परिग्रहाभिधान-षट्कम्

पुनर्जम्बूः पृच्छति स्म—

[1]परिग्रहो मूर्च्छेति हि, सिद्धान्ते ज्ञापितं जिनैः स्पष्टम् ।
कैः कैरभिधानैस्तद्व्याख्या स्याद् वर्ण्यतामीषत् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

यत् त्रिंशत्संज्ञाभि-स्तद्व्याख्या[2] जन्यते विशदद्रष्ट्या[3] ।
प्रथमं नाम 'महेच्छा', भूरीच्छाहेतुकत्वेन ॥२॥

'प्रतिबन्ध' प्रतिबद्धं, स्याच्चित्तं प्रायश परिग्रहिणाम् ।
'लोभात्मा' धनलोभे, तेषामात्मा परिभ्रमति ॥३॥

'भारो' भारकरत्वा-त्तद्गुरु भारं मनः सदा वहति ।
'कलिकरण्ड' नाम्नापि, व्याख्यातः कलहकारित्वात् ॥४॥

नानाऽनर्थकरोऽसौ, तेनानर्थं परिग्रहः प्रोक्तः ।
ज्ञेयस्तद्वदगुप्ति-रसंयमत्वात् त्रियोगाणाम् ॥५॥

पुनरमुक्तिरासक्तिस्तृष्णा तद्वत्स्फुटोऽस्त्यसन्तोषः ।
एवमादिनामानि, स्वयमभ्यूह्यानि शास्त्रेण ॥६॥

●

---

१ आर्यावृत्तानि । २ प्रश्नव्याकरण आस्रवद्वार ।
३ वैसे मूल में ३० नाम गिनाए गए हैं किन्तु यहाँ १० नामों की ही व्याख्या है ।

न पक्षतो नो[६] पुरतो गुरूणा, तिष्ठेद् विनीतो न च पृष्ठतश्च ।
सक्थ्ना न सक्थि प्रतियुज्यमानो, स एव शिष्यो विनयीति बोध्य ॥७॥

शय्यागतो नासनगश्च[७] पृच्छेत्, गुरुं समागम्य कृताञ्जलिर्य ।
भक्त्या भवन्नुत्कटिक प्रपृच्छेत्, स एव शिष्यो विनयीति बोध्य ॥८॥

मनोगतं वाक्यगतं[८] च भावमाचार्यपादस्य विभाव्य योऽत्र ।
स्वीकृत्य वाचा क्रियया च कुर्यात्, स एव शिष्यो विनयीति बोध्य ॥६।

[९]उग्रस्वभावानपि चार्यवर्यान्, प्रसादयेच्छीतलया गिरा य ।
चित्तानुगो दाक्ष्यगुणोपपेत, स एव शिष्यो विनयीति बोध्य ॥१०॥

सम्भाषमाणस्य[१०] गुरोस्तथैव, व्याकुर्वतस्तात्त्विकबोधचर्चाम् ।
यो नान्तराले वदतीह किंचित्, स एव शिष्यो विनयीति बोध्य ॥११॥

यथा विचित्राहुतिभि कृशानु-मुत्कृष्टमन्त्रादिभिराहिताग्नि ।[११]
संसेवते भक्तियुतस्तथा यो, गुरुं स शिष्यो विनयीति बोध्य ॥१२॥

❀

शिष्य गुरु के पार्श्व भाग में आगे और पीछे तथा घुटने से घुटना सटाकर स्थित न हो। ऐसा शिष्य विनयी कहा जाता है ॥७॥

जो बिछौने या आसन पर स्थित होता हुआ गुरु से कुछ नहीं पूछता, अञ्जलि-बद्ध होकर – हाथ जोड़कर समीप आकर, भक्ति से झुक कर जो पूछना होता है, पूछता है, वह शिष्य विनयी कहलाता है ॥८॥

जो आचार्यचरण का मनोगत या वचनगत भाव पहचान कर, वाणी द्वारा उसे स्वीकार कर आचरण द्वारा क्रियान्वित करता है वही शिष्य विनयी है ॥९॥

आचार्य यदि उग्र (तेज) स्वभाव के हों, तो भी अपनी शीतल – शान्त वाणी द्वारा जो उन्हें प्रसन्न कर लेता है, उनके चित्त – मनोभाव के अनुसार जो कार्यरत रहता है, इस प्रकार का गुरु-अनुवृत्तिनिपुण शिष्य विनयी माना जाता ॥१०॥

गुरु किसी से वार्तालाप कर रहे हों अथवा तात्त्विक विवेचन या तत्त्वचर्चा कर रहे हों, तब जो बीच में कुछ भी नहीं बोलता, वैसा शिष्य विनयी समझा जाता है ॥११॥

जैसे एक आहिताग्नि—अग्नि में नियमित हवन करने वाला—उसे सदा सजीव रखने वाला अग्निहोत्री जिस प्रकार उत्तम मन्त्रों के साथ विविध आहुतियों द्वारा उसकी सेवा या आराधना करता है उसी प्रकार जो शिष्य गुरु की भक्तिपूर्वक सेवा करता है, वह विनयी समझा जाता है ॥१२॥

अवाचनीय-षट्कम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म

[1]के वाचनार्हा किल शिष्यवर्या, के मन्त्ययोग्या इह वाचनार्थम्।
व्याख्यायतामार्यवरेण सम्यग्, यथा फलाढ्या किल बोधभूमि ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

उट्टङ्कनं तावकमस्ति सुष्ठु, क्षेत्रस्य बोध प्रथम विधेय।
अक्षेत्र उप्त फलवद् न किंचित्, प्रयाति वप्तापि च निन्द्यभावम् ॥२॥

चतु प्रकारानिह[2] शास्त्रदाने, शिष्यानयोग्यान् कथयन्ति सुज्ञा।
अनास्रव· स्थूलवचा· कुशीलो, न वाचनीयः गुरुणा स शिष्य ॥३॥

नानारसास्वादनलोलुपो यो, दुग्धाज्यमिष्टान्नकृतैकलक्ष्य।
त्यक्तुं न चाल विकृती कदाचित्, न शिक्षणीयो गुरुणा स शिष्य ॥४॥

विधाय यः प्राभृतमुग्रभावात्, तस्योपशान्ति न करोति कर्हि।
ग्रन्थि निबध्योरसि वर्तते यो, न पाठनीयो गुरुणा स शिष्य ॥५॥

तद्वच्चतुर्थे गुरुणापि सार्धं, यो मायया चाचरण करोति।
न मायिको ज्ञानमुपैतुमीशो, न पाठनीय गुरुणा स शिष्य' ॥६॥

---

१ चत्तारिअवायणिज्जा (?) वपत्ताणिबुराणि

२ स्थानाङ्ग ४, उद्देशक ३ बोल ४१३।

शिक्षाऽयोग्य-सप्तकम्

पुनर्जम्बू : पृच्छति स्म—

[1]शिक्षा ग्रहीतुकामोऽपि, शिष्य शिक्षा लभेत न।
तत्रावरोधकृत् किंचित्, कारण तद् विवर्ण्यताम् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच -

पञ्चभि कारणै[2] शिष्यो, न शिक्षामुपसर्पति।
नह्ययोग्यपदं किंचिद्, योग्यं[3] स्वीकर्तुमीहते ॥२॥

प्रथमे कारणे स्तब्धो, न विद्यामुपतिष्ठति।
स्तब्धता जडतामेति, शिक्षार्हः स्याज्जड. कथम् ॥३॥

क्रोधी गुरुविरोधी स्यात्, शिक्षापात्रं कथं सक.।
तप्तभूमौ कथंकार, प्रस्फुटेदङ्कुरावलि· ॥४॥

तृतीयं कारण तत्र, प्रमादी न कदाप्यहो।
प्रभूष्णु शिक्षणं नेतुं, निद्रादीना वशंवद ॥५॥

तुर्ये रोगी न शिक्षाया, क्षेत्रे साफल्यमाप्नुयात्।
देहार्तिपीडितो नित्यमशान्त किमु शिक्षते ॥६॥

पञ्चमे चालमश्छात्र, कार्यकालातिपातक·।
करिष्यामीति जल्पाको, न विद्याग्रहणे क्षम ॥७॥

---

१ आप्तवृत्तम्। २ उत्तराध्ययन, अ ११ गाथा-२।

शिक्षार्ह-षट्कम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म --

[1]क शिक्षार्ह स्याच्छात्र, आत्तभावना सत्पात्र ।
किं विवेचित स्वयंभुवा, जिज्ञासोत्पन्नाभिनवा ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच —

स्थानैरष्टविधैर्यो[2] युक्तो ज्ञानाय नित्यमुद्युक्त ।
शिक्षा तत्त्वविशिष्टा, प्रज्ञावानात्मसात् कुरुते ॥२॥

य स्यादहमनशीलो, वृथाट्टहास्य कदाप्यकुर्वाण ।
दान्तश्चेन्द्रियविषये, वक्ति न मर्माविधं वाणीम् ॥३॥
नाशीलवान् कदापि हि, सततं शालीनतादि-गुणयुक्तः ।
तद्वद् यो न विशीलोऽनाचार वर्जयन् नितराम् ॥४॥
नातिलोलुपो य स्याद्, हित-मित-भोजी रसेष्वनासक्त ।
अक्रोधन' क्षमावानुपशमभावेन परिपूर्ण ॥५॥
सत्यरतो य सुतरा, मिथ्यामायादिदुर्गुणैर्मुक्त ।
एतादृश सुशिष्यो ध्रुवगुरुशिक्षा समाश्रयते ॥६॥

※

---

१ चतुर्दशमात्रीयवृत्ताद् । २ आर्यावृत्तानि । ३ उत्तरा० अ. ११ गाथा ४५.

सूत्रशिक्षास्थान-पञ्चक—विवेचनाष्टकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]'को लाभ सूत्रशिक्षाया, किमर्थं शिक्षते सुधी ?
प्रसाद· क्रियता देव ! शिक्षासूत्र' विवेच्यताम् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

[2]स्थानानि पञ्चात्र विविच्य धीमान्, शिक्षेत सूत्राणि सुविस्तृतानि।
अप्राप्य शिक्षा प्रवरागमाना, नाध्यात्मबोध· सुलभो नराणाम् ॥२॥

ज्ञानादृते ह्यन्धसमो मनुष्यो, ज्ञानस्य हेतो श्रुतमभ्युपेयम्।
सूचि ससूत्रेह यथाऽऽशु लभ्या, ज्ञानी तथाऽध्यात्मगतिं प्रयाति ॥३॥

ज्ञानं तृतीयं ननु नेत्रमस्ति, दयानुगा[4] ज्ञानपदं पुरोगम्।
अज्ञानमुग्र' वत ! कष्टमुक्तं, ज्ञान हि दीपो गहनान्धकारे ॥४॥

दृष्ट्या हि दृक् कार्यमकार्यमेव, मार्गावबोधेन विना प्रयाणम्।
तद्दर्शनार्थं श्रुतमभ्यसन्तु, सम्यग्दृशः स्थानमनुत्तरं यत् ॥५॥

तथैव चारित्रविशोधनार्थं, शिष्येण नेया शुभशास्त्रशिक्षा।
चारित्रधर्म प्रथम प्रयोज्य, स्थानं तृतीय सुतरामुपास्यम् ॥६॥

---

१ अनुष्टुब्वृत्तानि २ उपजाति वृत्तानि ३ स्थानाङ्ग ५
४ 'पढमं नाणं तओ दया'—दशवैकालिक अध्ययन ४ गाथा ३०।

तुर्यं पद व्युद्ग्रहमोक्षणार्थं, शिक्षा विनेय प्रतिपद्यते च।
सुशिक्षितो मूढतया गृहीतान्, कदाग्रहान तत्क्षणमुज्झनीह ॥७॥

भावान् यथार्थानथ सूत्रशिक्षया, ज्ञास्याम्यहं तात्त्विक-सात्त्विको भवन्।
हेतूनमून् पञ्च निधाय चेतसि, सूत्रस्य शिक्षाग्रहणे प्रवर्ततान्॥" ॥८॥

समाधिचतुष्टयत्रयोदशकम्

पुनर्जम्बूः पृच्छति स्म

[1]कतिधा समाधयः स्युस्तेषां व्याख्या स्वरूपतः कास्ति।
समाधिशून्यं भगवन्! किं जीवनमत्र संसारे ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

[2]समाधयः सन्ति चतुःप्रकाराः, पूर्वं तु तावद् विनयः समाधिः।
श्रुतं समाधिश्चतपःसमाधिराचारयोगाच्च तथा समाधिः ॥२॥

[3]चत्वारश्चत्वारश्चैकैकेषां भवन्ति खलु भेदाः[4]।
विनय-समाधेस्तत्र, भेदाः सम्यग् विबोधव्याः ॥३॥

गुरुणानुशास्यमानो, भक्त्या शुश्रूषते गुरुं विनयी।
कठोरमपि गुरु-कथनं, सम्यक् प्रतिपद्यते धीमान् ॥४॥

[5]वेदमर्थतो ज्ञानं, सुतरामाराधयन् स्थिरस्वान्तः।
आत्मगौरवाविष्टो, न भवति कुत्राप्यहंकारी ॥५॥

श्रुतसमाधिमाध्यायन्, मुनिश्चतुर्धा विचारणां कुरुते।
भविष्यति श्रुतमिह मे, तेनाध्येतव्यमनुसमयम् ॥६॥

तथैकाग्रचित्तोऽहं, ह्यध्ययनात्तन्मना भविष्यामि।
स्वयमपथि चात्मानं, साधुतया स्थापयिष्यामि ॥७॥

मया स्थापयिष्यन्ते, पुनरपरे स्वच्छबोधदानेन।
अध्येतव्यं तस्मात्, शास्त्रं ध्रुवमप्रमत्तेन ॥८॥

---

१ आर्यावृत्तम् २ उपजाति-वृत्तम् ३ दशवै. अ ९ उद्देशक ४
४ आर्यावृत्तानि ५ ज्ञानम्।

तप समाधिस्तद्वच्चतुर्विधो ज्ञानिभि. समाख्यातः ।
तपो नेहलोकार्थ — मधितिष्ठेत् किंचिदुपलब्धुम् ॥६॥

तथैव परलोकार्थ, शक्रादेः स्थानमाप्तुकामेन ।
न तप स्वीकर्त्तव्यं, कामनया क्लिष्टमखिलं स्यात् ॥१०॥

कीर्ति-वर्ण-शब्दार्थं — श्लाघादिकहेतवे पुनस्तद्वत् ।
न तपश्चाचरणीय, सनिदान दूषितं तत् स्यात् ॥११॥

नान्यत्र निर्जरार्थ, शुध्यर्थं कर्मणा हि कुशलेन ।
तपश्चाविशयितव्यं, तप.समाधिर्भवेत्तेन ॥१२॥

पुनराचारसमाधेर्व्याख्या ज्ञेया तप समाधिसमा ।
तत्राऽऽर्हतिको हेतुः, प्रतिपत्तव्यो विशेषेण ॥१३॥

सुखदशकैकदशकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]कतिधा सुखानि भगवन्, लौकिकलोकोत्तरादिकैर्भङ्गैः।
वर्ण्यपद नेयानि, स्पष्टं बोधो यथा तेषाम् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

[2]दशधा सुखानि शास्त्रे, जिनवरचन्द्रेण वर्णितानीह।
प्रथमं सुखमारोग्यं, सर्वसुखाना भवेन्मूलम् ॥२॥

सुखं द्वितीय दीर्घायुष्यं प्रभुणा निरूपितं तावत्।
अल्पे वयसि मृताना, सुखदुःखाना च को बोधः ॥३॥

आढ्यत्वं च तृतीय, सौख्यं संसारिणा प्रकटमेतत्।
ये निर्धना मनुष्यास्तेषा किं जीवनं लोके ॥४॥

कामाख्य भोगाख्यं, सुखं चतुर्थं च पञ्चमं भणितम्।
करणे चक्षुश्श्रोत्रे, कामे चान्यानि भोग्यानि ॥५॥

तेन कामभोगाख्य, सौख्यमनन्यं च स्वीकृत सर्वैः।
कामभोगलब्ध्यर्थं, किं किं लोका न कुर्वन्ति ॥६॥

(युग्मम्)

षष्ठं सन्तोषाख्यं, सुखमिह परिलक्षितं विशिष्टतमम्।
यत्र यथा यल्लब्धं, सन्तोषी सौख्यमनुभवति ॥७॥

---

१ आर्यावृत्तानि   २ स्थानाग १०

अस्तिसुखं च तदनुगं, वस्तुप्राप्तिर्भवेद् यथासमयम् ।
भाग्यजुषां केषाचन, पदे-पदे स्युर्निधानानि ॥८॥

सुखभोगाख्यमष्टमं, सुखमायत्तं च नाकिना भवति ।
न दुःखलेशस्तत्र, देवा पुण्यैकफलभाजः ॥९॥

निष्क्रमणाख्यं नवमं, सुख मुनीना प्रसाधितं सुतराम् ।
विगतरागमदमोहं, मोदन्ते नित्यमनगाराः ॥१०॥

दशमं चानाबाधं, निर्द्वन्द्व शाश्वतं सुखं मोक्षे ।
न यत्र जननं मरण, नैव जरा नैव रोगाश्च ॥११॥

अस्तिमुख च तदनुग, वस्तुप्राप्तिर्भवेद् यथासमयम् ।
भाग्यजुषां केषाचन, पदे-पदे स्युर्निधानानि ॥८॥

सुखभोगाख्यमष्टमं, सुखमायत्त च नाकिना भवति ।
न दुःखलेशस्तत्र, देवा पुण्यैकफलभाज. ॥९॥

निष्क्रमणाख्यं नवमं, सुख मुनीना प्रसाधितं सुतराम् ।
विगतरागमदमोहं, मोदन्ते नित्यमनगाराः ॥१०॥

दशमं चानावाधं, निर्द्वन्द्वं शाश्वत सुखं मोक्षे ।
न यत्र जननं मरण, नैव जरा नैव रोगाश्च ॥११॥

त्रित्तसमाधि-द्वादशकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

'चित्तसमाधे' कतिधा, स्थानानि व्यञ्जितानि जिनचन्द्रै ।
चित्तसमाधिं प्राप्तुं, सर्वे यतय प्रवर्तन्ते ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

दशधा[2] चित्तसमाधि—स्थानान्युक्तानि तत्त्वयुक्तानि ।
स्थविरैर्भगवद्भिर्यत्, तेषां व्याख्यां शृणु स्पष्टाम् ॥२॥

घोरं तप आचरतस्तात्त्विक-चिन्तावत पुनस्तावत् ।
सहजानन्दो य स्यात्, चित्तसमाधिर्भवेत् तेन ॥३॥

धर्मभावना नासीत्, पूर्वं चेत् सा भवेत् समुल्लसिता ।
चित्तसमाधिं सहसा, प्रथमे स्थाने नरो लभते ॥४॥

स्वप्नानदृष्टपूर्वान्, भद्रायतिसूचकान् विलोक्य नर ।
चित्तसमाधिं लभते, पदे द्वितीये शुभाशंसी ॥५॥

जातिस्मृतिं च लब्ध्वा, पूर्वभवान् प्रेक्षते स्फुटं मर्त्य ।
चित्तसमाधिं तस्माल्लभते स्थाने तृतीये हि ॥६॥

देवदर्शनं सहसा, कश्चित् पुण्येन कोऽपि सम्प्राप्य ।
दिव्यर्द्धिं सम्पश्यन्, समाहित स्यात् पदे तुर्ये ॥७॥

---

१ [illegible] २ समवायाङ्ग, सूत्र ३६

चित्तसमाधि-द्वादशक

जम्बू ने फिर पूछा—

प्रभु महावीर ने चित्त-समाधि के कितने स्थान प्रतिपादित किये है ? (कृपया वतलाये)। (चित्त-समाधि का इतना महत्व है कि) मव मुनि उमे अधिगत करने के लिए अग्रमर होते हैं — प्रयत्नशील रहते हैं ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

स्थविर (सयम-धर्म मे चिरन्तन स्थितिशील) भगवान ने चित्त-समाधि के दश तत्त्वयुक्त-महत्वपूर्ण स्थान वतलाये ह। उनकी विशद व्याख्या सुनो ॥२॥

उग्र तप का आचरण करते हुए, तत्त्व-चिन्ता मे तत्पर माधक को जो महज-स्वाभाविक—आध्यात्मिक आनन्द अनुभूत होता है, उगमे चित्तसमाधि प्राप्त होती है ॥३॥

जिसमे पहले धर्म-भावना नही थी, फिर यदि वह (धर्म-भावना) समुल्लसित—उत्पन्न व विकसित हो जाए तो वह मनुष्य सहमा चैतसिक समाधि प्राप्त करता है। यह पहला स्थान या कारण है ॥४॥

कोई सद्भावशील पुरुप अदृष्ट पूर्व—जिन्हे पहले कभी नही देखा, शुभ या कल्याणमय भविष्य के सूचक स्वप्न देख कर चित्तसमाधि प्राप्त करता है। यह दूसरा स्थान है ॥५॥

जाति-स्मृति—जाति स्मरण ज्ञान—पीछे के भवो की स्मृति प्राप्त कर कोई मनुष्य अपने पहले के भवो को साफ-साफ देखता है (उनसे प्रेरित हो कर), वह चित्त-समाधि प्राप्त करता है। यह तीसरा स्थान ह ॥६॥

कोई व्यक्ति अपने पुण्य के कारण सहसा देव-दर्शन प्राप्त कर, दिव्य-दैवी ऋद्धि—वैभव देखता हुआ चित्त-समाधि प्राप्त करता है। यह चौथा स्थान है ॥७॥

अवधिज्ञानं लब्ध्वा, स्पष्टा विज्ञाय विश्ववैचित्रीम् ।
अतुलं चित्तसमाधिं, कश्चिद् योगीश्वरो लभते ॥८॥

अवधिदर्शनात्तद्वत्, विलोकमान स्फुटं जगद्रूपम् ।
चित्तसमाधिं श्रयते, ज्ञानदर्शने समे स्याताम् ॥६॥

मनःपर्यवं ज्ञानं, तद्वत्सम्प्राप्य कोऽपि मुनिवर्यं ।
चित्तसमाधिं भजते, जानानोऽन्तर्गतान् भावान् ॥१०॥

ज्ञानं केवलसज्ञं, भिक्षुर्लब्ध्वा च दर्शनं पूर्णम् ।
उत्कृष्टं च समाधिं, श्रयते घातिकविनाशोत्थम् ॥११॥

कृत्स्नकर्मनाशात्किल, निर्वाणं प्राप्नुवन् समाधिस्थ ।
सर्वक्लेशवियुक्तो, ह्यात्मा सिद्धात्मतामेति ॥१२॥

□

कोई योगीश्वर—महान् साधक (इन्द्रिय तथा मन की सहायता के विना मूर्त्त पदार्थो का अवबोध कराने मे सक्षम) अवधिज्ञान प्राप्त कर, जगत् की विचित्रता को स्पष्टरूप मे जानता हुआ अनुपम चित्त-समाधि प्राप्त करता है। यह पाँचवाँ स्थान है ॥८॥

उसी तरह साधक अवधि दर्शन मे जगत् के रूप को स्पष्ट देखता हुआ चित्त-समाधि प्राप्त करता है। ऐसे सा धक का ज्ञान और दर्शन—दोनो समान होते है। यह छठा स्थान है ॥९॥

कोई मुनिश्रेष्ठ (इन्द्रिय और मन की सहायता के विना मर्यादित रूप से समनस्क जीवो के मन स्थित भाव का ज्ञापक) मन पर्यवज्ञान प्राप्त कर अन्तर्वर्ती भावो को जानता हुआ चित्त-समाधि प्राप्त करता है। यह सातवाँ स्थान है ॥१०॥

श्रमण केवल-ज्ञान— सर्वज्ञता तथा पूर्ण-दर्शन—केवल-दर्शन प्राप्त कर घाति (आत्मा के स्वाभाविक या प्रमुख गुणो का घात करने वाले—ज्ञानावरणीय, दर्शना-वरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय) कर्मो का विनाश—क्षय हो जाने से उत्कृष्ट समाधि प्राप्त करता है। यह आठवाँ स्थान है ॥११॥

समाधि मे स्थित साधक समग्र कर्मो के क्षीण हो जाने पर निर्वाण—मोक्ष प्राप्त करता हुआ सब दु खो से छूट जाता है। आत्मा सिद्धात्मा के रूप मे परिणत हो जाती है ॥१२॥

तिर्यग्योनेरायुषश्चत्वारि कारणानि

[1]मुग्ध-प्रतारण-परायणता दधान ,
स्मेराननं सुमधुरं वचनं ब्रुवाण ।
ग्रन्थिं निकृन्तति शनैश्छलवान् परेषां,
तैरश्चमायुरचिरात् स नरश्चिनोति ॥७॥

कृत्वातिभीषणतमां वत ! दम्भचर्या,
तद्गूहनाय निकृतिं कुरुते नवीनाम् ।
चातुर्यचञ्चुरतुल कुटिलाशयश्च,
तैरश्चमायुरचिरात् स नरश्चिनोति ॥८॥

स्वार्थाय दत्तवचनो निहुते निजार्थे,
तत्कालमात्तशपथं वितथीकरोति ।
धूर्तो व्यलीक-वचनं सततं प्रजल्पन्,
तैरश्चमायुरचिरात् स नरश्चिनोति ॥९॥

मानानि यस्य न समानि तथैव कूटा,
वर्वर्ति यस्य च तुलाऽखिलपापमूला ।
प्रामाणिकं किमपि यस्य नरस्य नास्ति,
तैरश्चमायुरचिरात् स नरश्चिनोति ॥१०॥

मनुष्ययोनेश्चत्वारि कारणानि

[2]भद्रता-गुणयुतो विराजते, य सदा प्रकृतितोऽपि निश्छलः ।
भावयोगकरणादिसत्यभाक्, सोऽसुमान् श्रयति मानुषं भवम् ॥११॥

य पुन प्रकृतितो विनीतता-सद्गुणेन समलंकृत सुधी ।
भक्तियुक् गुरुजनस्वनाग्न, सोऽधितिष्ठति च मानुषं जनुः ॥१२॥

---

१ वसन्ततिलका वृत्तानि
२ रथोद्धता वृत्तानि

तिर्यक्योनिबधने के चार कारण

जो मनुष्य मुस्कराता हुआ, मधुर वचन बोलता हुआ, भोले-भाले लोगों की प्रतारणा प्रवचना करने में, उन्हें धोखा देने में तत्पर रहता है, जो कपटपूर्वक चतुराई से दूसरों की गांठ काटता है, उसे तिर्यंच-योनि का आयुष्य बांधते देर नहीं लगती ॥७॥

जो मनुष्य अत्यन्त भीषण—घृणित दम्भाचरण करता है, उसे छिपाने के लिए नया कपट रचता है, इस प्रकार बेहद चालाक और कुटिलाशय-कुटिलभावना-पूर्ण होता है, वह तिर्यक्योनि का आयुष्य बांधता है ॥८॥

जो अपने स्वार्थ के लिए वचन देता है वायदा करता है, स्वार्थ पूरा न होने पर जो किये हुए वायदे को तत्काल झूठा कर डालता है--तोड डालता है, जो धूर्तता का व्यवहार करता है, जो सतत मिथ्याभाषण करता है, वह मनुष्य पशु-पक्षी का आयुष्य बांधता है ॥९॥

जिसके तौलने के बाट सही नहीं होते, जिसकी तराजू सर्वथा पापपूर्ण कूटता लिए रहती है, अर्थात् जिसका माप-तौल सही नहीं होता, जिसकी कोई भी वस्तु प्रामाणिक नहीं होती, वह मनुष्य तिर्यंच का आयुष्य बान्धता है ॥१०॥

मनुष्यगति बधने के चार कारण

जिसमें भद्रता—सौम्यता आदि गुण होते हैं जो प्रकृति से छलरहित - सरल होता है, जो भाव, योग तथा करण (कृत-कारित-अनुमोदित) आदि में सत्य का व्यवहार करता है, वह प्राणी मानव-भव प्राप्त करता है ॥११॥

जो सुज्ञ व्यक्ति प्रकृति से ही विनम्रता आदि उत्तम गुणों से अलकृत होता है, गुरुजनों के प्रति जो अनवरत भक्तिमान् होता है, वह मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है। ॥१२॥

यो दयार्द्रहृदयो विवर्त्तते, कृत्स्न-जन्तु-निवहेऽप्यकारणम् ।
कोमलो विमलभावनोन्मुखो, सोऽधितिष्ठति च मानवी तनुम् ॥१३॥

प्रेक्ष्य य परगुणान् विशेषतो, मोदमेदुरमना प्रमोदते ।
मत्सरेण नितरा विवर्जित, सोऽधितिष्ठतितरा नृणा वपु ॥१४॥

देवभवस्य चत्वारि कारणानि

यो मुनि स्फुट-सराग सयमी, प्राप्तवान् नहि च वीतरागताम् ।
एति नापरगति स निश्चयाद्, देवयोनिमभियाति पुण्यभाक् ॥१५॥

यो गृही सुगुणभृद् व्रताव्रती, श्रावकत्वमनुपालयन् मुदा ।
पौषधादिषु समुद्यत सदा, देवयोनिमभियाति पुण्यभाक् ॥१६॥

नास्ति यस्य वरबोधसम्पदा, केवलं श्रयति दुर्वहं तपः ।
तेन बालतपसाऽपि स्वर्गतिं, सेवते स शुभकर्मसंनयात् ॥१७॥

य पुनर्विदधदकामनिर्जरा, केवलं जनरवाद् विशङ्कितः ।
सुव्रतान्युपरितो निषेवते, सोऽपि याति किल देवतापदम् ॥१८॥

※

जो समस्त प्राणि-वर्ग के प्रति निष्कारण दया-द्रवित रहता है, कोमल होता है, निर्मल भावनाएँ लिए रहता है, वह मानव-देह प्राप्त करता है ॥१ ॥

जो दूसरो के गुण देख कर प्रसन्नता से खिल उठता है—प्रमुदित होता है, जिसमे जरा भी ईर्ष्याभाव नहीं होता, वह मानव-देह प्राप्त करता है ॥१ ॥

देवभव प्राप्त करने के चार कारण

जो श्रमण निर्मल सयम का पालन करता है, पर जब तक (११ वे गुणस्थान तक) उसमे सरागता रहती है, वीतरागता नही आती। वह पुण्यात्मा निश्चय ही कोई दूसरी गति न पा कर देवगति प्राप्त करता है ॥१५॥

जो गृहस्थ सद्गुणशील है, व्रताव्रती-देशविरत है, जो प्रसन्नतापूर्वक श्रावक-धर्म का पालन करता हुआ सदा पौषध आदि मे तत्पर रहता है, वह निश्चय ही देव-गति का आयुष्य बाधता है ॥१६॥

जिसे उत्तम बोध—सम्यक्ज्ञानरूपी सम्पत्ति प्राप्त नही है, जो केवल घोर तप का आचरण करता है, उस बाल-तप (सम्यक्ज्ञानरहित तपस्या) से भी वह पुण्यकर्मो के सचय के कारण स्वर्ग प्राप्त करता है ॥१७॥

जो अकामनिर्जरा- मोक्ष के लक्ष्य के बिना निर्जरा—तपस्या करता है, जो जनरव-लोकनिन्दा से शकित होता हुआ ऊपर-ऊपर से उत्तम व्रतो का पालन करता है, वह भी देवता का पद-स्थान-स्वर्ग प्राप्त करता है ॥१८॥

※

किमानृण्यं स गच्छेद्धि, पृष्टेऽद्र प्रभुरुक्तवान् ।
नायमर्थं समर्थो यद्, भर्तुरुपकृति परा ॥१९॥

भर्तुं धर्मस्य साहाय्यं, यदि भृत्यो ददात्यलम् ।
तदानृण्य स लभते, सद्गते प्रापणाद् ध्रुवम् ॥२०॥

तृतीयमानृण्यम्

तथैव गुरुभि. शिष्य, कृपा कृत्वा प्रबोधित ।
सम्यग्दर्शन-दानेन, मिथ्यात्वाद् दूरत कृत ॥२१॥

सम्यग् वैराग्यमापाद्य, विषयैर्विमुखीकृत ।
गम्भीरतत्त्वदानेन, प्रापितश्चोत्तमा स्थितिम् ॥२२॥

प्रथमाद्धि गुणस्थानादानीत पष्ठमास्पदम् ।
इत्थमाचार्यवर्याणामुपकारो महत्तम ॥२३॥

इङ्गिताकारसम्पन्न॰, शिष्य कर्त्तव्यतत्पर ।
श्रद्धया पूर्णभक्त्या यो, गुरु शुश्रूपतेऽन्वहम् ॥२४॥

भोजनैरौपधैर्नानाकार्यैं सन्तोपयन् गुरुम् ।
किं गुरोरुपकारस्य, विनेयो निकृतिं व्रजेत् ॥२५॥

नायमर्थं समर्थोऽस्ति प्रत्युक्तं प्रभुणा स्फुटम् ।
स्वतिपष्ठा शिष्यसेवेयं, गरिष्ठ गुरुकर्म तु ॥२६॥

आपाढभूतिवत् कर्हिचिद् धर्माच्चलिते गुरौ ।
पुन॰ सस्थापयेत् शिष्यो, गुरुं सद्बोधदानत ॥२७॥

तदा स निकृतिं किंचिदुपकारस्य गच्छति ।
एव दुष्प्रतिकाराणि, त्रीणि कार्याणि सन्त्यहो ॥२८॥

क्या वह ऐसा कर उससे उऋण हो सकता है? इस विषय में पूछे जाने पर प्रभु महावीर ने कहा—स्वामी का उपकार बहुत बड़ा है भृत्य द्वारा किया गया यह कार्य उसे ऋणमुक्त नहीं करा सकता। वह (भृत्य) उऋण तभी हो सकता है, जब वह अपने स्वामी को धर्म का यथेष्ट सहयोग दे, उसे सद्गति प्राप्त कराने वाले मार्ग पर अग्रसर होने को प्रेरित करे—उसमें सहयोगी हो ॥१६।२०॥

महान् गुरु ने कृपा कर शिष्य को प्रबोध दिया—प्रतिबुद्ध किया—धर्म के प्रति जागृत किया, उसे सम्यग्दर्शन का लाभ दिया, उसका मिथ्यात्व मिटाया उसे वैराग्योन्मुख बनाया, सांसारिक भोगों से विमुख किया, उसे गहन तत्त्वों का ज्ञान कराया—यों उसे उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कराई, प्रथम (मिथ्यात्व) गुणस्थान से उसे छठे (प्रमत्त-संयत) गुणस्थान में पहुँचाया। इस प्रकार आचार्यवर्य (श्रद्धेय गुरु) का उपकार बहुत बड़ा है। २१।२२।२३॥

गुरु के संकेत और आकृति (मुख के)—हाव-भाव को पहचानने वाला, कर्त्तव्य-परायण शिष्य अत्यधिक भक्ति व श्रद्धा से प्रतिदिन गुरु की सेवा करता है, तरह-तरह के भोज्य पदार्थों, औषधियों एवं अनुकूल कार्यों से गुरु को सन्तुष्ट करता है। क्या ऐसा कर वह गुरु के उपकार से उऋण हो सकता है?॥२४।२५॥

भगवान् महावीर ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट प्रतिपादित किया कि शिष्य की यह सेवा अत्यन्त साधारण-अल्पतम है और गुरु ने उसके लिए जो किया, वह बहुत बड़ा कार्य है। कदाचित आषाढभूति की तरह गुरु धर्म से चलित हो—धर्म-पालन में शिथिलता आ जाए तो शिष्य उन्हें सद्बोध दे कर धर्म में पुनः सुदृढ करे। ऐसा कर वह शिष्य गुरु के उपकार का कुछ बदला चुका सकता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीन ऋण दुष्प्रतिकार्य हैं—उनका प्रतिकार—शोधन—उनसे उन्मुक्ति बहुत कठिन है ॥२६।२७। २८॥

□

आत्मरक्षा-त्रिक-द्वादशकम्

पुनर्जम्बू : पृच्छति स्म—

> [1]सर्वेभ्यस्तत्त्वेभ्योऽप्युत्कृष्टा वर्तते स्वरक्षा या ।
> सा कतिधा भगवद्भिर्निरूपिता वर्ण्यतामाप्तैः ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

> [2]त्रिधात्मरक्षा[3] भगवद्भिरुक्ता, स्थानाङ्गसूत्रे परिवर्णिता या ।
> ता आत्मसाद् यो कुरुते मुनीन्द्र, स निश्चितं कर्तुमलं स्वरक्षाम् ॥२॥

> रक्षा द्विधोक्ता स्वपरेति भेदात्, स्वीकृत्य तावद् व्यवहारपक्षम् ।
> विलोक्यते तात्त्विकदर्शनेन, तदा स्वरक्षा हि विशेषिता स्यात् ॥३॥

> सर्वेषु भूतेषु यदात्मभावस्तदा परः कोऽपि न दृष्टिमेति ।
> परस्य रक्षा किमिव प्रपद्या, ततः स्वरक्षा हि परस्य रक्षा ॥४॥

> पिपीलिकानामुपरि क्रमौ न, क्षिपेद् दयावान् यदि सोपयोगः ।
> तासां दया सा नहि तत्त्वतोऽस्ति, पापात् स्वरक्षा ह्यनुकम्पकस्य ॥५॥

> येनान्वभावि ध्रुवमात्मभावः, सर्वेषु सत्त्वेष्वनुभूतिभाजा ।
> कथं स हिंसामुररीकरोति, स्वस्यैव हिंसा खलु भावतः सा ॥६॥

---

१ आचाराङ्गम् । २ उपमाशिसूत्रम् । ३ स्थानाङ्ग ३ उद्देशक ३ सूत्र २२८

आत्मरक्षा-त्रिक-द्वादशक

जम्बू ने फिर पूछा—

स्वरक्षा —आत्मरक्षा सभी तत्त्वों से उत्कृष्ट है—उसका स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वह कितने प्रकार की है, इस सन्दर्भ मे भगवान् ने जो निरूपण किया, आप कृपया वर्णन करे ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

भगवान् महावीर ने आत्म रक्षा के तीन प्रकार बतलाये है, जिनका स्थानाङ्ग सूत्र मे विशद वर्णन है। जो मुनिवर्य उन्हे आत्मसात् करता है—उनका अवलम्बन करता है, वह निश्चय ही अपनी रक्षा करने मे समर्थ होता है ॥२॥

व्यवहार-पक्ष—व्यावहारिक दृष्टिकोण को स्वीकार कर 'स्व रक्षा' तथा 'पर-रक्षा'—यो रक्षा दो प्रकार की बतलाई गई है। यदि तात्त्विक दृष्टि से—आध्यात्मिक दृष्टिकोण मे देखा जाए तो वस्तुत स्व-रक्षा की ही विशेषता है ॥३॥

जब समग्र प्राणियो के प्रति आत्मभाव होता है—सब प्राणियो को आत्मवत् अपने समान समझा जाए तो कोई भी (प्राणी) दूसरा नही दिखाई देता। तब दूसरे की रक्षा का प्रश्न ही नही उठता। वहाँ स्व-रक्षा ही पर-रक्षा है, क्योकि स्व और पर का भेद वहाँ अपगत हो जाता है ॥४॥

यदि कोई उपयोग (जागरूकता) रखता हुआ दयावान् व्यक्ति (जानता-बूझता) चीटियो पर पैर नही रखता तो तात्त्विक दृष्टि से वह चीटियो की दया नही है। वह तो अनुकम्पक—अनुकम्पा या दया करनेवाले की पाप से आत्म-रक्षा है—ऐसा कर उसने अपने को पाप से बचाया ॥५॥

जो अनुभूतिशील व्यक्ति सब प्राणियो मे आत्म भाव—सब के प्रति आत्म-समानता का अनुभव करता है—सबको अपने समान मानता है, वह हिंसा को कैसे स्वीकार कर सकता है, क्योकि दूसरे की हिंसा भावात्मक या तात्त्विक दृष्टि से वास्तव मे उसकी अपनी ही हिंसा है ॥६॥

आत्मरक्षाया भेदत्रयी

विलोक्य[1] कंचिद् पुरुषं नृशंसं, वधोद्यतं शौकरिकाद्यमुग्रम् ।
सम्बोधयेद् धार्मिकनोदनाभिः, हिंसास्वरूप - प्रतिपत्तिपूर्वम् ॥७॥

विद्धस्त्वमङ्घ्री यदि कण्टकेन, पीडामुदग्रामनुबोभवीसि ।
व्यापाद्यमाना अपरेऽपि जीवाः, किं तादृशीं नानुभवन्ति पीडाम् ॥८॥

तस्मादहिंसां भज शान्तिदात्रीं, निबर्हणं दारुणकर्म मत्वा ।
सुबोधितश्चेत्स भजेदहिंसां, तदात्मरक्षा प्रथमा सुजाता ॥९॥

चेन्न प्रपद्येत परः सुशिक्षां, क्रूराशयो दुर्मतिराततायी ।
तूष्णीकतां स्वीकुरुते कृपालुरेषात्मरक्षा कथिता द्वितीया ॥१०॥

तूष्णीं भजन् स्थातुमलं न चेत्स, व्रजेत्तदैकान्तपदं प्रशान्तः ।
एषात्मरक्षा कथिता तृतीया, स्वाध्यायसद्ध्यान-रसैकमग्नः ॥११॥

यद् रक्तरक्तं वसनं जगत्या, रक्तेन शुद्धं न भवेत् कदापि ।
शक्त्या निरोद्धुं न तथैव हिंसा शक्या, न यावद् हृदयं दयार्द्रम् ॥१२॥

□

१ उपत्यारि बूनाम्

किसी कसाई आदि निर्दय और उग्र पुरुष को हिंसा करने में उद्यत देखकर उसे धर्म की प्रेरणा करे, यथावत् रूप में हिंसा का तत्त्व समझाए—यदि तुम्हारे पैर में काटा लग जाए तो तुम्हे भीषण पीड़ा होती है, दूसरे जीव, जो (तुम्हारे द्वारा) मारे जा रहे है, क्या उनको उस तरह पीडा नही होती ? अवश्य होती है। इसलिए वध या हिंसा को भीषण—अत्यन्त पीडाकर कर्म मानकर अहिंसा को स्वीकार करो, जो शान्तिप्रद है। हो सकता है, यो समझाये जाने पर वह (वधक) अहिंसा ग्रहण कर ले। यह प्रथम कोटि की आत्मरक्षा है ॥७।८।९॥

यदि वह निर्दय, दुर्बुद्धि, पापी, वधक उपर्युक्त शिक्षा न माने तो वह (शिक्षा देने वाला) दयावान् पुरुष फिर मौन हो जाता है। यह दूसरी कोटि की आत्मरक्षा है ॥१०॥

यदि वह (दयावान् पुरुष) वहाँ चुपचाप नही ठहर सकता तो वह शान्तभाव से स्वाध्याय तथा शुभ ध्यान के रस मे लीन होता हुआ वहाँ से अन्यत्र किसी एकान्त स्थान मे चला जाए। यह तीसरी कोटि की आत्मरक्षा है ॥११॥

संसार मे खून से रगा हुआ वस्त्र कभी खून से शुद्ध नही हो सकता। उसी प्रकार जब तक हिंसक के मन में दया का भाव नही उत्पन्न होता, तब तक शक्ति-पूर्वक-बल प्रयोग या हिंसा द्वारा हिंसा नही रोकी जा सकती ॥१२॥

❀

निश्रापञ्चक-सप्तदशकम्

पुनर्जम्बू : पृच्छति स्म—

[1]कति निश्रास्थानानि हि यद् भिक्षो साधुधर्ममाचरत ।
कथितो रथः शताङ्गो, नानिश्रितमस्ति किमपीह ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

पञ्चोक्तानि प्रभुणा, निश्रास्थानानि युक्तियुक्तानि ।
साहाय्यमाप्य तेषा, संयमयात्रा मुनिर्वहति ॥२॥

प्रथमे स्थाने राजा, समुचितन्यायैकतत्परो धर्मी ।
तत्तद्देशनिवासि—व्रतिना निश्रापदं भवति ॥३॥

यद्यन्यायी राजा, भवन्त्युदग्राणि पापतत्त्वानि ।
कथं शक्नुयु कर्तुं, मुनयः सत्साधना तत्र ॥४॥

गाथापतिर्द्वितीये, स्थानाहारादिदानत सुमुने ।
निश्रास्थानं लभते, सापेक्ष जीवन कथितम् ॥५॥

तद्वत् षट्कायाना—मनुवेल वर्ततेऽत्र साहाय्यम् ।
यथा भूमिराधारः, सर्वस्य हि जन्तुजातस्य ॥६॥

स्थान निषीदनं च, स्वाप संजायते मुनेर्भूमौ ।
प्रस्तर-धूलिप्रमुखा, भूरिपदार्था मुनेर्भोग्याः ॥७॥

---

१ आर्यावृत्तानि ।

निश्रापञ्चक-सप्तदशक

जम्बू ने फिर पूछा—

साधु-धर्म—पञ्च महाव्रत मूलक सयम-धर्म का आचरण करते हुए मुनि के लिए आलम्बन, आश्रय या सहारे के रूप मे कितने-कौन मे स्थान हैं ? उदाहरणार्थ रथ शताङ्ग-सौ अग वाला कहा गया है, अर्थात् उसकी अवस्थिति भी—अनेक अगो अवयवो या भागो पर टिकी है। जगत् मे अवलम्बनशून्य किसी का अस्तित्व नही है ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया

प्रभु महावीर ने श्रमण के लिए पाच युक्ति युक्त उपयुक्त अवलम्बन-स्थान कहे हैं। उनका साहाय्य—सहयोग प्राप्त कर मुनि अपनी सयम-यात्रा का निर्वाह करता है, अर्थात् अपना सयमी जीवन भली भाँति निभाता हे ॥२॥

पहला स्थान राजा का ह। उचित न्याय करने मे सर्वथा तत्पर सदा सच्चा न्याय करने वाला तथा धर्म-परायण राजा अपने राज्य मे प्रवास करने वाले व्रतियो महाव्रतियो मुनियो के लिए आलम्बन होता है ॥३॥

यदि राजा अन्यायी होता है तो पाप-तत्व पापमय कार्य बहुत तीव्र हो जाते हैं—बहुत बढ जाते हे। वैसी स्थिति मे मुनि वृन्द अपनी पवित्र साधना वहाँ किस प्रकार कर सके ॥४॥

स्थान-दान, आहार-दान आदि अपेक्षा से मुनि के लिए गाथापति—गृहस्थ या गृही दूसरा आलम्बन स्थान ह। क्योकि जीवन दैहिक जीवन, सापेक्ष—दूसरे की अपेक्षा – आवश्यकता या आधार पर अवस्थित ह ॥५॥

छ काय के जीवो का सहयोग हर समय है ही। जैसे पृथ्वी सभी प्राणियो (की अवस्थिति) का आधार है ॥६॥

मुनि भूमि पर ही खडे होते हैं, बैठते है तथा सोते हैं। पत्थर मिट्टी आदि अनेक पार्थिव (पृथ्वी या भूमि मे सम्बद्ध) वस्तुएँ उनके उपयोग मे आती हैं ॥७॥

तथाम्भस माहात्म्यं, दुर्निवहा तद्विना तु वटिकैका ।
पानधावनप्रमुखा, सन्ति प्रचुरा क्रियास्तद्गा ॥८॥
अन्नं विहाय मर्त्य', श्वसितुमलं भूरिशोदिनान्यत्र ।
जल जीवनं प्रोक्तं, निश्रास्थान ततो व्रतिन. ॥६॥

वह्नेरपि साहाय्य, तद्वद् ग्राह्यं स्वजीवने मुनिभिः ।
प्रायो भोजनजात, नीर पक्व च तेनैव ॥१०॥

तद्वत् श्वासोच्छ्वासे, प्रकटमपेक्षास्ति वायुकायस्य ।
क्षणमपि न जीवनार्ह, स्यात् प्राणी वायुपरिहीण ॥११॥

वनस्पतेरपि तद्वद्, ह्यस्ति विशिष्टा सहायता सुमुने ।
अन्नफलादिकभोज्यं, वस्त्रं किल तद्भवं ग्राह्यम् ॥१२॥

पात्रं शय्यादिकमपि, भेषजमपि तत्प्रयोगनिष्पन्नम् ।
इत्थ वनस्पतेरिह, निश्रारूपेण योग्यत्वम् ॥१३॥

त्रसजन्यपुद्गलाना, तद्वत् साहाय्यमप्युरीकार्यम् ।
दुग्धं तज्जन्य पुनरूर्णायु स्वीकृतो मुनिना ॥१४॥

तुर्य निश्रास्थानं, गण इत्युक्त सहायतादाने ।
वृद्ध—बाल—रुग्णाना, क सेवा तं विना कुरुते ॥१५॥

तथा पञ्चम निश्रास्थानं प्रोक्तं जिनै शरीरमपि ।
ऋते साधनात्साध्य, कथमपि लभ्यं न केनापि ॥१६॥

स्वाध्यायो ध्यान वा, तथा विहार परोपकारार्थम् ।
भवेत् सहाय गात्र, तेन हि निश्रापद प्रोक्तम् ॥१७॥

उसी प्रकार जल का साहाय्य—सहयोग भी अत्यन्त अपेक्षित है। उसके विना घडी भर का निर्वाह भी कठिन हो जाता है। पीना, धोना आदि (मुनि जीवन से सम्वद्ध) अनेक क्रियाएँ जल पर आधृत हैं ॥८॥

अन्न के विना मनुष्य वहुत दिन तक जीवित रह मकता ह, पर जल के विना नही। जल को 'जीवन' कहा गया है। अत एव श्रमण के आलम्वन स्थानो मे इसकी गणना है ॥९॥

जल की तरह अग्नि का साहाय्य भी मुनियो को (परोक्ष रूप मे) प्राप्त है। प्राय भोज्य पदार्थ उसी से पकते हैं तथा जल भी उसी से गर्म (अचित्त) होता है ॥१०॥

श्वासोच्छ्वास मे—साँस लेने व छोडने मे वायुकाय—पवन की स्पष्ट ही आवश्यकता होती ह। वायु के विना प्राणी क्षण भर भी जीवित नही रह मकता ॥११॥

वनस्पति का भी मुनि के लिए विशेष साहाय्य है। अन्न, फल आदि भोज्य पदार्थ तथा वस्त्र जो मुनि लेते है, वनस्पति से उत्पन्न होते हे ॥१२॥

पात्र, पाट, बाजोट आदि (नित्य उपयोग की) सामग्री औषधि—वनस्पति के प्रयोग से निष्पन्न होती है (जिन्हे मुनि यथावश्यक रूप मे ग्रहण करते हैं)। इस प्रकार आलम्बन के रूप मे वनस्पति की अपनी योग्यता उपादेयता है ॥१३॥

त्रस (सवेदना शील, जगम) प्राणियो से उत्पन्न पुद्गलो-पुद्गलिक या भौतिक पदार्थो का साहाय्य भी मुनियो के लिए स्वीकार्य होता हे। जैसे दूध (जो गाय-भैस से उत्पन्न होता है) तथा ऊन (जो भेड से उत्पन्न होती हे) मुनि लेते है ही ॥१४॥

मुनि-जीवन मे महयोग करने मे चौथा आलम्बन-स्थान गण—श्रमण-श्रमणी सघ वतलाया गया हे। उसके विना वृद्ध, वालक तथा वीमार साधु-साध्वियो की सेवा कौन करे? ॥१५॥

वीतराग भगवान् द्वारा पाँचवाँ आलम्वन-स्थान शरीर वतलाया गया है। शरीर माधन है। माधन के विना कोई भी माध्य को नही पा मकता। स्वाध्याय, ध्यान, दूसरो के उपकार—धार्मिक प्रतिवोध हेतु विहार—इन सव मे शरीर सहायक होता है। इमलिए उसे आलम्वन कहा हे ॥१६।१७॥

❀

यदा मनुष्या कुटिला नृशंसा, अन्यायपूर्णाश्च चरित्रहीनाः ।
स्वार्थाय निघ्नन्ति परार्थमाशु, कालस्तदा दु षमता प्रयाति ॥८॥

आचर्यते यद् मनुजै शुभाशुभं, तस्यैव काल• प्रतिविम्बमाप्नुयात् ।
यदा मनुष्या सरला सदाशया, कालस्तदानी सुषम स्वयं भवेत् ॥९॥

जब मनुष्य कपटी, निर्दय, अन्यायी तथा चरित्रहीन हो जाते हैं, स्वार्थ के लिये परार्थ का, अपने लाभ के लिये दूसरे के लाभ का हनन कर डालते हैं, तब समय स्वय दु:षम हो जाता है ॥८॥

मनुष्य जो शुभ-अशुभ—पुण्य-पाप का आचरण करते हैं, काल मे स्वय उसका प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। जब मनुष्य सद्भावयुक्त तथा सरल होते हैं, तब काल स्वय सुषम हो जाता है ॥९॥

❀

पञ्चविधमुण्डविवेचन-त्रिकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

प्रयोजनं किं किल मुण्डनस्य,
मुण्ड कथ जैनमुनिर्विबोध्य[1]।
का भावना गुह्यतमा त्रकास्ति,
विवेचनीयं गुरुणा रहस्यम् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

पञ्च प्रकारा[2] विलसन्ति मुण्डा,
क्रोधेन मानेन तथैव मुण्ड।
छलेन लोभेन पुनश्चमुण्ड,
शीर्षेण मुण्ड. पुनरन्तिमोऽस्ति ॥२॥

क्रोधादिकाना न हि मुण्डन स्यात्,
तावच्छिरोमुण्डनमस्ति फल्गु।
सद्भावमुण्ड प्रमुखो हि मुण्डो,
द्रव्येण मुण्डो वहिरङ्गदृष्ट्या ॥३॥

---

१ उपजातिवृत्तानि। २ स्थानाग ५।३।१३१

पञ्चविधमुण्ड विवेचन-त्रिक

जम्बू ने फिर पूछा —

मुण्डित होने का क्या प्रयोजन है ? जैन मुनि मुण्ड क्यो कहलाता है ? इसमे कौनसा अत्यन्त गुह्य—छिपा हुआ भाव है। गुरुवर ! इस रहस्य का कृपया विवेचन करें ॥ १ ॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

पाच प्रकार के मुण्ड होते हैं—क्रोध, अहकार, कपट एव लोभ से मुण्डित और अन्तिम—पाचवा मस्तक-मुण्डित ॥ २ ॥

जब तक क्रोध आदि का मुण्डन-नाशन न हो, तब तक केवल मस्तक का मुण्डन वृथा या अर्थशून्य है। भाव-मुण्ड (आन्तरिक विकारो का ध्वसक) ही प्रमुख या प्रकृष्ट है। जो केवल बहिरग दृष्टि से या दैहिक रूप मे मुण्डित है, वह द्रव्य—मुण्ड है ॥ ३ ॥

●

आत्मस्वरूप-द्वादशकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

एक एव किमात्मास्ति, किमुतानेकभेदयुक् ।
मान्यता विविधा लोके, देवार्य किं प्ररूपितम् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

[1]सम्यक् प्रश्नस्त्वदीयोऽय—मात्मज्ञान महत्तमम् ।
आत्मस्वरूपबोधेन सर्वं बुद्धं भवेदहो ॥२॥

आत्मा यद् द्रव्यरूपेण[2], एक एव प्रवेदित. ।
असख्यातप्रदेशित्वं, सर्वेषामात्मना समम् ॥३॥

सिद्धात्मा वास्तु संसारी, द्रव्यदृष्ट्या न भेदभाक् ।
भावात्मानस्तु भिद्यन्ते, ते तु सप्तविधा मता ॥४॥

कषायात्माथ योगात्मा, तद्वदात्मोपयोगयुक् ।
ज्ञानदर्शनचारित्र — वीर्यात्मानस्तथोदिता ॥५॥

कषायादिविभावेषु, यदात्माय प्रवर्तते ।
तत्तदात्मकता तावद्, लभते पारिणामिक ॥६॥

ज्ञानदर्शनवीर्यादि—यदा भावेषु वर्तते ।
तदा तन्नामत संज्ञा, विन्दते नात्र संशय ॥७॥

---

१ अनुष्टुप् वृत्तानि   २ भगवती, शतक १२, उ १० सूत्र ४६६ ।

आत्मस्वरूप-द्वादशक

जम्बू ने फिर पूछा—

क्या आत्मा एक ही है या उसके अनेक भेद हैं? जगत् मे तरह-तरह की मान्यताए है। देवार्य—भगवान महावीर ने इस सम्बन्ध मे क्या प्रतिपादित किया, कृपया बतलाएँ ॥ १ ॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया —

तुम्हारा प्रश्न समीचीन है। आत्मज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व है। आत्मा का स्वरूप जान लेने पर सब जान लिया जाता है ॥ २ ॥

द्रव्य रूप से आत्मा एक ही बतलाई गई है। सभी आत्माओ के समान रूप मे असख्यात प्रदेश है ॥ ३ ॥

चाहे सिद्ध मुक्त आत्मा हो या ससारी (कर्मावरण सहित) आत्मा, द्रव्य-दृष्टि से उनमे परस्पर कोई भेद नही है। भाव (भावात्मक) दृष्टि से उनके सात भेद हैं, जैसे—कषाय-आत्मा, योग-आत्मा, उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा, दर्शन-आत्मा, चारित्र-आत्मा तथा वीर्य-आत्मा ॥ ५ ॥

जब आत्मा कषाय आदि विभावो (अनात्म-भावो) मे प्रवृत्त होती है, तब वह पारिणमिक दृष्टि से तत्-तत् आत्मकता—उन-उन भावो से सपृक्त आत्मावस्था मे परिणत हो जाती है। और वह उन-उन सज्ञाओ से अभिहित होती है ॥ ६ ॥

जब आत्मा ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि भावो मे प्रवृत्त होती है, तब वह उन-उन नामो से सज्ञित की जाती है ॥ ७ ॥

कस्मिश्चित् कष्टसमये, केनाप्युपकृता वयम्।
आजीवनमुपकारो, विस्मर्तव्यो न कर्हिचित् ॥८॥

य कृतघ्नो भवेत् तस्य, यद् गर्वोद्धत-मानसम्।
स्वतो निम्नगतिं यायात्, विद्यमानगुणक्षयात् ॥९॥

मिथ्यात्वाभिनिवेशाख्य, चतुर्थ कारणं यतः।
हन्त! बोधविपर्यासो, महापाप निगद्यते ॥१०॥

कापथ भजमानोऽपि, ज्ञानी मद्भूतदृष्टिभाक्।
पुनः सत्पथमायातुं, चक्षुष्मानिव शक्यते ॥११॥

मिथ्यादृगन्धवत् वर्त्म, कथमाप्तुमल भवेत्।
सद्गुणाना विनाशेनाऽधोऽधो याति भवे भ्रमन् ॥१२॥

चतुर्भि कारणै सन्तोगुणा दीप्यन्ति तद् यथा

अभ्यासवर्तिता तत्र, पौरस्त्य कारण स्मृतम्।
सान्निध्य सत्पुरुषाणा, सद्गुणोद्दीपकं स्वत ॥१३॥

परच्छन्दानुवर्तित्वं, द्वितीयं कारण मतम्।
स्वाभिप्रायनिरोधेन, गुणाना परिवर्धनम् ॥१४॥

कार्यहेत्वभिधान हि, तृतीय कारणं पुन।
यच्चिकीर्षितकार्यार्थमानुकूल्येन वर्तनम् ॥१५॥

नेय ज्ञेयं यतो लभ्य, नव्यं भव्य विशेषत।
आनुकूल्य सृजन् तत्तद्गुणान् लब्धुमलं भवेत् ॥१६॥

कृतप्रत्युपकर्तृत्वं, स्थान तुर्यमनुत्तरम्।
कृतज्ञ उपकार्यर्थं, प्राणान् दातुमपीहते ॥१७॥

यत् परोप्युपकारेण, स्वकीयादतिरिच्यते।
गुणी वैशिष्ट्यमाप्नोति, स्मरन्नुपकृतिं कृताम् ॥१८॥

□

कष्ट के समय यदि किसी ने हमारा उपकार किया हो तो हमे चाहिए कि जीवन पर्यन्त हम कभी भी उसका उपकार न भूलें ॥८॥

गर्व मे उद्धत बना जो व्यक्ति किये हुए उपकार का हनन करता है उसे भूल जाता ह, उसके गुण क्षीण हो जाते हैं—मिट जाते हैं। फलत वह अपने आप निम्न (नीच) गति मे जाता है ॥६॥

चौथा कारण मिथ्यात्व-अभिनिवेश ह। मिथ्यात्व (सद्-बोध) का विपर्यास—विपरीतता या उलटापन है, जो महापाप कहा जाता है ॥१०॥

असत्पथ का अवलम्बन करता हुआ व्यक्ति यदि ज्ञानी है, उसकी दृष्टि सत् तत्त्व मे निष्ठाशील है तो वह नेत्रवान् पुरुष की तरह फिर सत्पथ पर आ सकता है ॥११॥

जिसकी दृष्टि मिथ्या है, वह नेत्रहीन की तरह मार्ग कैसे प्राप्त कर सकता है। उसके सद्गुण मिट जाते हैं और वह भव-भ्रमण करता हुआ—बार-बार जन्म-मरण के चक्र मे भटकता हुआ उत्तरोत्तर निम्नगति मे जाता है ॥१२॥

चार ऐसे कारण हैं, जिनसे अपने मे विद्यमान गुण उद्दीप्त होते हैं—चमकते ह—विकास पाते ह। अभ्यासवर्तिता पहला कारण बताया गया है, (तदन्तर्गत) सत्पुरुषो का सान्निध्य सद्गुणो का स्वय उद्दीपन करता है ॥१३॥

दूसरे के आदेश मे अनुवर्तित रहना दूसरा कारण माना गया है। अपनी इच्छा के अवरोध या सयमन से गुणो का सवर्धन होता है ॥१४॥

कार्यहेतु नाम का तीसरा कारण है। जो कार्य करना चाहते है, तदर्थ उसके अनुरूप वर्तन करना चाहिए ॥१५॥

जहाँ से जो अभिनव एव सुन्दर (गुण आदि) लेना, जानना या पाना हो, तो उनके अनुकूल अपने को बनाता हुआ व्यक्ति उन-उन गुणो को पाने मे सक्षम हो सकता है ॥१६॥

किसी द्वारा किये गये उपकार का प्रत्युपकार करना चौथा अनुत्तर सर्वातिशायी -अत्युत्तम कारण है। कृतज्ञ व्यक्ति अपने उपकारी के लिए अपने प्राण तक देने को तैयार हो जाता है।

दूसरा भी उपकार के कारण अपने (स्वजन) से भी बढकर हो जाता है। किये हुए उपकार को स्मरण करता हुआ गुण-सम्पन्न पुरुष वैशिष्ट्य—विशिष्टता——उच्चता प्राप्त करता है ।१८॥

❀

अतिशेषज्ञानप्राप्त्यप्राप्ति-हेतुद्वादशकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

'भगवन्! कतिभि स्थानैर्निर्ग्रन्थस्य महामुने।
समुत्पात्यतिशेष यज्ज्ञान नोत्पद्यतेतराम् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

'हेतुभिरत्र चतुर्भिर्ज्ञान' नोत्पद्यते समुत्पाति।
साधोस्तथा च साध्व्यास्तत्तत्समये विशेषेण ॥२॥

योऽभीक्ष्णं मुनिराज, स्त्रीणा विकथापरो भवति तावत्।
लावण्यरूपरसिक, मोत्लासं वर्णनं कुरुते ॥३॥

भक्तकथामपि तद्वद्, मिष्टाम्लाद्यै रसै. परिस्फुरिताम्।
विविधस्वाद्यसामग्रीव्यग्रा वर्णनपथं नयते ॥४॥

कस्मिन् देशे का का, प्रथा प्रथिष्ठा विचित्रतायुक्ता।
तद्वर्णनैर्मुनियो, निजसमय यापयेदसकृत् ॥५॥

तथैव राजकथा यस्तत्तद्गौरवनिदर्शनी सुतराम्।
रणयात्रादिविवर्णनरुचिरा सुचिरान्मुनि कुरुते ॥६॥

विकथापरस्य साधो, श्लथिमान श्रयति धार्मिकी चेष्टा।
ज्ञान कथमतिशयितं तत्र स्थान प्रपद्येत ॥७॥

---

१ अनुष्टुप् छन्द। २ आर्यावृत्तानि। ३ स्थानाग ४ उ. २ सूत्र ३५२।

अतिशेषज्ञानप्राप्त्यप्राप्ति-हेतुद्वादशक

जम्बू ने फिर पूछा—

भगवन् ! वे कौन कौन स्थान या कारण हैं, जिनसे निर्ग्रन्थ महामुनि को समुत्पाति-उत्पन्न होने वाला विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न नही होता ? ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

चार कारणो से साधु या साध्वो को समुत्पति—उस-उस समय पर समुत्पातोन्मुख विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न नही होता ॥२॥

जो मुनि प्रतिक्षण (हर समय) स्त्रियो की विकथा (शास्त्र-वर्जित, अनुपयोगी चर्चा) मे लगा रहता है, स्त्रियो के सौन्दर्य और रूप मे रम लेता हुआ उल्लसित होकर उनका वर्णन करता हे।

वैसे ही जो मीठे, खट्टे आदि रसो से प्ररिस्फुरित, तरह-तरह की खाद्य-सामग्री से सवलित भक्त-कथा —आहार की चर्चा करता रहता है।

किस-किस देश मे कौन-कौन मी विचित्र प्रथाएँ प्रचलित हैं, उनका वर्णन करते रहने मे जो अनवरत अपना समय विताता है।

उसी प्रकार राजा के अत्यन्त गौरव-गरिमा का सूचन करने वाली, युद्ध-यात्रा आदि के वर्णन से सुहावनी राजकथा चिर समय मे करता रहता हे, इस प्रकार से विकथा-परायण माधु का धार्मिक उद्यम शिथिल हो जाता है। ऐसे व्यक्ति मे अतिशयित-विशिष्ट ज्ञान कैसे स्थान प्राप्त कर सकता हे। यह पहला कारण है ॥३।४।५।६।७॥

तथा द्वितीये स्थाने, व्युत्सर्गेण व्रती विवेकेन।
भावयति च नात्मानं, नोत्पत्ति परमबोधस्य ॥८॥

पूर्वापररात्रे बत! तथा मुनिर्यो न धर्मजागरणाम्।
जागरयते मुभावात्, स विन्दते परमबोध न ॥९॥

सामुदानिकं प्रासुकमुञ्छ सम्यक् तथैषणीय च।
न मुनिर्गवेषयेद् यः, स न पात्र परमबोधस्य ॥१०॥

तथा चतुर्भि स्थानैरतिशयबोधान्वितो मुनिर्लसति।
उपयुक्तं विधियुक्तं, यश्चाचरण सदा कुरुते ॥११॥

विकथावर्जनशीलो, भावनया व्युत्सृजन् विवेकी च।
धर्मजागरायुक्तो, विशुद्धभोजी च यो धीमान् ॥१२॥

दैहिक आसक्ति तथा ममता का उत्सर्ग कर—उनमे ऊचा उठकर जो मुनि विवेक-पूर्वक अध्यात्म-भाव से अनुप्राणित नही होता, उसको परम विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति नही हो सकती । यह दूसरा कारण है ॥८॥

पूर्व रात्रि तथा अपर रात्रि—रात्रि के प्रथम प्रहर तथा अन्तिम प्रहर मे जो मुनि सद्भाव पूर्वक धर्म-जागरणा मे उद्बुद्ध नही रहता, वह परम ज्ञान नही पा सकता ॥९॥

जो मुनि सामुदानिक, प्रासुक, उञ्छ, तथा एषणीय (तत्तद्-दोषवर्जित, शुद्ध) आहार की गवेषणा नही करता, वह परम बोध का पात्र-अधिकारी नही होता ॥१०॥

चार कारणो से मुनि अतिशयित-परम या विशिष्ट ज्ञान से सुशोभित होता है जो उपर्युक्त विधिपूर्वक सदा आचरण करता है । अर्थात् वह तदनुसार विकथा का परिवर्जक अध्यात्म से अनुभावित, दैहिक आसक्ति का व्युत्सर्जक, विवेक-सम्पन्न धर्म-जागृति मे युक्त, शुद्ध-दोषवर्जित आहार सेवी तथा प्रज्ञा-सम्पन्न होता है ॥११।१२॥

संज्ञाचतुष्टयाष्टकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]कतिधा संज्ञा भगवन् ! तासामाख्या. श्रयन्ति का व्याख्याम् ।
जिज्ञासा मे प्रबला, प्रसादवन्तो भवन्तश्चेत् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

संज्ञा सन्ति[2] चतस्रस्ताभिर्व्यक्तः सचेतनो जीवः ।
यदि ता जीवे न स्युर्जीवाजीवेषु को भेदः ॥२॥

आहारसंज्ञा प्रथमा, विशेषतः सर्वजन्तुजातेषु ।
क ईदृशो यः स्यात्तु शक्नोत्यसुमाननाहारः ॥३॥

त्रसः स्थावरो वास्तु, तद्वत्संमूर्च्छिमः सगर्भो वा ।
आहारसंज्ञा तेषामनुसमयं जागृता भवति ॥४॥

भयसंज्ञापि तथैव च, बिभ्यति जीवा इतस्ततो नितराम् ।
वेपन्ते सम्प्राप्य च, कामप्याकस्मिकीं घटनाम् ॥५॥

तथैव मैथुनसंज्ञा, वेदोदयतोऽखिलेषु जीवेषु ।
लता वृक्षमालिङ्ग्य, प्रकटं प्रोल्लासमाभजते ॥६॥

तथा परिग्रहसंज्ञा, तुर्या भीषणतमा विशेषतया ।
काश्चन वन्यौषधयो, निधिमासाद्य प्ररोहन्ते ॥७॥

संज्ञातीता ये इह, ते नूनं वीतरागपदभाजः ।
तेषां कुतः संसारः, संज्ञारूपो हि संसारः ॥८॥

---

१ आर्यावृत्तानि । २ समवायांग सूत्र १२ ।

संज्ञाचतुष्टयाष्टक

जम्बू ने फिर पूछा—

भगवन् ! सज्ञा कितने प्रकार की है ? उनके क्या नाम हैं, क्या व्याख्या है। मेरे मन मे उत्कट जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। बडी कृपा हो, आप फरमाएँ ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

सज्ञाएँ चार हैं। उनसे चेतनामय जीव की अभिव्यक्ति होती है। यदि वे (सज्ञाएँ) जीव मे न हो तो जीव तथा अजीव मे क्या भेद रहेगा ॥२॥

प्रथम आहार-सज्ञा है। यह सर्व प्राणि समूह मे (विशेष रूप से) उपलब्ध है। ससार स्थित ऐसा कौन प्राणी है, जो आहार के बिना रह सके ? ॥३॥

चाहे त्रस (सवेदन व स्पन्दनशील) हो या स्थावर (स्थितिशील), सम्मूर्च्छिम (अगर्भोत्पन्न स्वेदज आदि) हो या गर्भोपपन्न, सबके आहार सज्ञा प्रति समय जागृत होती रहती है– आहार की ईप्सा बनी रहती है ॥४॥

आहार-सज्ञा की तरह भय-सज्ञा भी सासारिक प्राणियो मे सर्वत्र परिव्याप्त है। इधर से उधर से वे अत्यन्त भीति का अनुभव करते रहते हैं। किसी आकस्मिक घटना को साक्षात् कर कापने लगते है। यह दूसरी सज्ञा है ॥५॥

इसीप्रकार वेद (स्त्री-वेद, पुरुष-वेद विपरीत लैङ्गिक सगमाभिलाप—निष्पादक कर्म-पुद्गल) के उदय से उत्पन्न होने वाली मैथुन-सज्ञा समग्र प्राणिवर्ग मे व्याप्त है। उदाहरणार्थ बेल वृक्ष का आलिगन कर—वृक्ष के लिपटकर अत्यन्त उल्लास प्राप्त करती है, जो स्पष्ट है। यह तीसरी सज्ञा है ॥६॥

उसी के समान चौथी परिग्रह-सज्ञा है। वह अत्यन्त भयानक है। यहाँ तक कि कतिपय जगली बूटिया तक कही किसी निधान (गडी सम्पत्ति) को अधिगत कर (वहा) अकुरित होती हैं ॥७॥

जगत् मे जो जीव सज्ञा से अतीत हैं जो उपर्युक्त सज्ञाओ से सर्वथा अप्रभावित है, वे निश्चय ही वीतराग-पद के अधिकारी है। उनके लिए ससार कहाँ है ? ससार तो सज्ञामूलक ही है ॥८॥

कषायस्वरूपवर्णन–दशकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]केचिन्मन्दकषाया— स्तीव्रकषाया भवन्ति केऽप्यत्र ।
कथं तादृशो भेदः, कृपया सम्यग् विवेक्तव्यम् ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच –

चतुःप्रकारा[2] क्रोधा— श्चतुःप्रकारास्तथैव मानाद्या ।
एवं षोडशभेदा, अत्र चतुर्णां कषायाणाम् ॥२॥

जीवनपर्यन्तं य क्रोधोऽनन्तानुबन्धिसंज्ञः स ।
अतिभीषणरोषाग्निज्वालाजाज्वल्यमानश्च ॥३॥

पर्वतराजिसमानो द्वैधं प्राप्त कदापि नहि मिलति ।
तादृक् क्रोधी मर्त्यो, मृत्वा नरकं व्रजेन्नूनम् ॥४॥

अपरोऽप्रत्याख्यानो[3], द्वादशमासावधि श्रयन् क्रोध ।
कासारराजितुल्यो, तद्वान् तिर्यग्गति लभते ॥५॥

चातुर्मास्यावधिक, प्रत्याख्यानस्तु धूलिरेखाभ ।
मन्दतर पूर्वस्मात् तद्युक्तो नरगति भजते ॥६॥

संज्वलनस्त्वतिमन्द, पक्षावधिको यदम्बुरेखाभ ।
स्वल्पकषायस्तादृग् मृत्वा दैवीं गति श्रयते ॥७॥

---

१ आर्यावृत्तानि । २ स्थानाङ्ग ४ उ १ सूत्र ३११। ३ स्थानाङ्ग ८ उ २ सूत्र ३८६।
४ यहाँ प्रत्याख्यानावरण का संक्षिप्त प्रयोग भीमो भीमसेनवत् 'प्रत्याख्यान' किया है।

कषायस्वरूपवर्णन-दशक

जम्बू ने फिर पूछा—

जगत् मे कई पुरुप मन्द-कपाय होते है तथा कई तीव्र-कपाय होते है। यह भेद क्यो है? कृपया भली भाति विवेचना करे ॥१ ॥

क्रोध चार प्रकार का है। उसी तरह मान आदि (माया व लोभ) भी चार-चार प्रकार के हैं। यो चारो कपायो के मोलह भेद हैं ॥ २ ॥

जो क्रोध जीवन-पर्यन्त रहता ह, वह अनन्तानुवन्धी कहा जाता है। इससे अभिभूत पुरुप अत्यन्त भीपण क्रोधाग्नि की ज्वाला मे जलता रहता हे ॥ ३ ॥

अनन्तानुवन्धी क्रोध पर्वत पर खीची गई रेखा के समान द्वैध भाव लिए रहता है, जो कभी नही मिलता। ऐसा क्रोधी पुरुप मरकर निश्चय ही नरक-गति मे जाता है ॥ ४ ॥

दूसरा अप्रत्यारयानावरण क्रोध हैं, जिमके टिकने की अवधि वारह महीनो की मानी गई हे। यह तालाव मे खीची रेखा के ममान है। ऐसा क्रोधी मर कर तिर्यक्-गति (पशु-पक्षियो की योनि) प्राप्त करता है ॥५॥

तीसरा प्रत्याग्यानावरण क्रोध है, जो चार महीने टिकता है। यह वालू पर खीची ग[illegible] रेखा के समान हे। यह पिछले मे मदतर-हल्का है। इसमे युक्त (प्रत्यारयानी क्रोध से अभिभूत) पुरुप मर कर मनुष्य-योनि प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

चौथा सज्वलन क्रोध है, जो अत्यन्त मन्द होता है, जिमके टिकने की अवधि केवल एक पक्ष (पन्द्रह दिन) मानी गई है। यह जल पर खीची गई रेखा के ममान है। ऐसा अल्प-कपाय पुरुप मर कर देव गति प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

अन्तरङ्गारिविजय-सप्तकम्

पुनर्जम्बू · पृच्छति स्म—

[1]के सन्ति शात्रवा इह, तेषा विजये क्रमोऽप्युदाहार्यः ।
जीवनमरातिरहित, सर्वे सुतरा समीहन्ते ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

महत्त्वपूर्ण· प्रश्न समाहितो भगवताऽपि साधुतया ।
बाह्यारीणामिह नो चर्चा किन्त्वन्तरङ्गाणाम ॥२॥

अध्यात्मदृष्टिभाजा, बाह्या अरयो न केऽपि सम्भाव्या ।
मित्राणि[2] शत्रवश्च, स्वाधिगता हि प्रलोक्यन्ते ॥३॥

सर्वेभ्योऽप्यतिशायी, मनो हि शत्रुर्दुराशयै पूर्णम् ।
निरंकुशान्यपि खानि च, तथा कषाया महारिपव ॥४॥

एषा विजये क्रममपि, तीर्थकृत सुन्दर समाचख्यु ।
एकस्मिन्[3] विजिते किल, पञ्चारीणा भवेद् विजय· ॥५॥

पञ्चाना विजयेऽथो, विजय सुकरश्चतु कपायाणाम् ।
अहह ! दशाना विजये, विजय सार्वत्रिको भवति ॥६॥

रणेन बाह्येनाल,[4] कुर्वाहवमात्मना हि पौरुषयुक् ।
आत्मानमात्मना किल, विजित्य सुखितो भवेर्नितराम् ॥७॥

---

१ आर्यावृत्तानि ।

२ उत्तराध्ययन अध्ययन २० गाथा ३७ ।

३ उत्तराध्ययन अध्ययन २३ गाथा ३७-३८ । ४ उत्तराध्ययन अ ९ गाथा ३५ ।

अन्तरङ्गारिविजय-सप्तक

जम्बू ने फिर पूछा—

इस जगत् मे कौन-कौन शत्रु हैं ? उन्हे जीतने का क्रम—उपाय कृपया बतलाएँ। क्योकि सभी का यह पुष्कल प्रयत्न है कि उनका जीवन शत्रु-रहित हो ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

तुम्हारा प्रश्न महत्वपूर्ण है। भगवान् महावीर ने इसका भली-भाति समाधान किया। यहाँ बाह्य शत्रुओ की चर्चा का प्रसग नही है, किंतु अन्तरग-आभ्यन्तर शत्रुओ से सम्बद्ध विषय है ॥२॥

जिनकी आध्यात्मिक दृष्टि है उनके कोई बाहरी शत्रु सभावित नही है। स्वाधिगत—स्वान्त स्थ मित्र और शत्रु ही वहाँ देखे जाते हैं ॥३॥

दूषित आशयो—भावो मे परिपूर्ण मन ही वहाँ सर्वातिशायी—सबसे बढा-चढा शत्रु है। उसी तरह अनियन्त्रित-उच्छृखल इन्द्रिय और कषाय भी महारिपु—भयानक शत्रु हैं ॥४॥

इन शत्रुओ के विजय का क्रम—मार्ग भी तीर्थकरो ने बडा सुन्दर बताया है। एक मन को जीत लेने पर पाचों इन्द्रिय रूप शत्रु (सहज ही) जीत लिये जाते हैं ॥५॥

पाँच इन्द्रियो को जीत लेने पर चारो कषायो को जीतना सरल हो जाता है। यो दशो का विजय सर्वदेशीय-सम्पूर्ण विजय है ॥६॥

बाहरी युद्ध की आवश्यकता नही है, आत्मा के साथ, अपने साथ-अपनी अनात्म वृत्तियो के साथ पुरुषार्थ पूर्वक युद्ध करो। आत्मा मे आत्मा को जीत कर सर्वथा सुखी बनो ॥७॥

❀

तार्त्तीयीकी समितिः, संसेव्या चैषणाऽशनादीनाम्।
ग्रहणे परिभोगेऽपि हि, किमनुष्ठेयं मुनीन्द्रेण ॥८॥

आदाने निक्षेपे, ह्युपकरणादेर्विवेकिना भाव्यम्।
तन्नाम्ना तुर्येयं समिति व्यावर्णितार्हद्भिः ॥९॥

परिष्ठापना समिति—स्तूच्चारप्रस्रवादिकाना यत्।
परिष्ठापने मुनिना, कथमिव चेतस्विना भाव्यम् ॥१०॥

निवृत्तिरूपास्तद्वत्, संगोप्या गुप्तयोऽथ तिस्रोऽपि।
मनोगुप्तिराद्या या, मनसः संगोपनाद् लसति ॥११॥

यावन्मनःप्रचार—श्चाञ्चल्यं जायते हि हृदयाब्धौ।
शान्तसरोवरजलवद्, मुनिना भाव्यं मनोगुप्त्या ॥१२॥

वाग्विषयेऽपि तथैव च, मुनिना वाचयमेन भवितव्यम्।
भावो मुनेर्हि मौनं, निर्वचानाद् भाति वाग्गुप्तिः ॥१३॥

कायगुप्तिरपि तद्वद्, वैशिष्ट्य स्वीकरोति संयमिनः।
हस्तपादनेत्रादेः, संयमतः सात्र सम्भवति ॥१४॥

प्रवचनमातर एता, अष्टावाराधना पथ नीता।
कल्याणकारिकाः स्युः, कर्त्तव्या विचिकित्सा नो ॥१५॥

ये ये मुनयो भूता, एष्यत्काले च ये भविष्यन्ति।
प्रवर्तमाना सर्वेऽप्युपासकाश्चाष्टमातृणाम् ॥१६॥

●

आहार आदि की एपणा-दोप-परिवर्जित,शुद्ध आहार आदि की गवेषणा तीसरी समिति है। इसका मुनि द्वारा भली-भाँति पालन किया जाना चाहिए। आहार-ग्रहण करने मे, उसका परिभोग-उपयोग करने मे मुनिवर्य को क्या करना चाहिए, यह इसका विषय है॥८॥

उपकरण—पात्र आदि अपेक्षित सामग्री लेने व रखने मे मुनि को विवेकशील होना चाहिए। यह चौथी समिति वीतराग भगवान् द्वारा 'आदान-निक्षेप-समिति' के नाम से वर्णित की गई है ॥९॥

मल,मूत्र आदि परठना 'परिष्ठापना समिति' हैं। इन्हें परठने मे मुनि को किस प्रकार सावधान— सयत्न रहना चाहिए, यह इसका विषय है ॥१०॥

इसी प्रकार तीन गुप्तिया है, जो निवृत्तिमूलक हैं। उनका सगोपन— नियमन करना चाहिए। उनमे पहली मनोगुप्ति है, जो मन के सगोपन से सधती है। जब तक मन का प्रचलन—विचरण है, तब तक हृदयरूपी समुद्र मे चञ्चलता (तद्रूप तरगें) उत्पन्न होती रहती है। इसलिए मुनि को शान्त सरोवर के जल की तरह चाञ्चल्य-रहित होना चाहिए ॥११।१२॥

उसी तरह वाणी का विषय है। मुनि को वाक्सयमी बनना चाहिए। 'मुनेर्भाव मौनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मौन का आशय मुनि-भाव या मुनित्व है। इस व्यौत्पत्तिक विश्लेषण मे वाक्-गुप्ति की अपनी विभा-सुन्दरता या उपादेयता स्वय साधित होती है ॥१३॥

काय-गुप्ति का भी उसी प्रकार का महत्त्व है। वह सयमी की विशिष्टता-दैहिक सयमन रूप साधनामय जीवन की पवित्रता का ससूचन करती है ॥१४॥

सयम आराधना के मार्ग मे समाहृत ये आठ प्रवचन-माताएं हैं। इनसे आत्म-कल्याण सधता है, इसमे जरा भी शका का अवसर नही है ॥१५॥

(अतीत मे) जो-जो मुनि हुए है, आने वाले समय मे जो होगे, वर्तमान मे जो है, वे सब इन प्रवचन-माताओ के उपासक (आराधक) रहे है, रहेगे, है ॥१६॥

□

अपवर्तनीयानपवर्तनीयायुष्क-नवकम्

पुनर्जम्बूः पृच्छति स्म—

[1]अपवर्तनीयमायु., किं चानपवर्तनीयमायुष्कम् ।
किमकाले मृत्यु स्याद्, विवेचना साधु कर्त्तव्या ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

देवा नारयिका" पुनरसंख्यवर्षायुषो नराश्चापि ।
तथा शलाकापुरुषा, निरुपक्रमिकाश्च चरमाङ्गा. ॥२॥

आयुर्द्विविधं शेषा, असुमन्त संश्रयन्ति निर्बाधम् ।
तत्रापवर्तनीये, प्रोच्यन्ते हेतव सप्त[3] ॥३॥

त्रुट्यत्यायु' प्रथमं, प्रबलाघातेन रागभीत्यादे' ।
प्रपारक्षिका युवती, रागाकुलिता गता मृत्युम् ॥४॥

कुन्तखड्गमुष्ट्यादे', प्रहारमासाद्य मरणमासन्नम् ।
भीमगदाघातात्किल, सुयोधनः प्राप्तवान् निधनम् ॥५॥

विषमिश्रितभोज्येनातिमात्रभोज्येन चायुषो हानि ।
उदरनेत्रशूलादे, स्यान्मृत्युस्तीव्रवेदनया ॥६॥

---

1 आर्यावृत्तानि ।

2 जैन सिद्धान्त दीपिका, प्रकाश ७ ।

3 ३८

अपवर्तनीयानपवर्तनीयायुष्क-नवक

जम्बू ने फिर पूछा—

क्या आयु मे अपवर्तन—घटाव हो सकता है अथवा आयु अनपवतनीय हे ? क्या अकाल मृत्यु हो मकती हे ? कृपया विशद विवेचना करे ॥ १ ॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

देव, नारक असख्य वर्षो का आयुष्य धारण करने वाले मनुष्य, शलाका पुरुष (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ वासुदेव, ६ प्रति वासुदेव तथा ६ वलदेव=६३ शलाका पुरुष–उत्कृष्ट कोटि के पुरुष) तथा चरमशरीरी (उसी देह मे मोक्ष जाने वाले—उस अन्तिम देह के धारक) —इनका आयुष्य निरुपक्रम होता हे— घटता नही ॥ २ ॥

इनके अतिरिक्त शेप प्राणी दो प्रकार का आयुष्य धारण करते हैं–अपवर्तनीय तथा अनपवर्तनीय । अपवतनीय—घट सकने योग्य आयु के सात कारण है, जिनका वर्णन इस प्रकार हे ॥ ३ ॥

राग, भय आदि के प्रवल आघात मे आयु (असमय मे) टूट जाती है । जैसे प्याऊ की निगरानी करने वाली युवती किसी युवक पर मोहित होकर रागात्मक आकुलता के कारण मृत्यु को प्राप्त हो गई । ॥ ४ ॥

भाला, तलवार, मुष्टिका (मुक्का) आदि का प्रहार लगन से भी (असमय मे आयु टूटकर) मृत्यु हो जाती ह । जैसे भीमसेन की गदा के प्रहार से दुर्योधन का मरण हो गया । यह दूसरा कारण है ॥ ५ ॥

जहर मिला भोजन करने मे, मात्रा से अधिक भोजन करने से आयुष्य (असमय मे) अभिहत—खण्डित हो जाता है । यह तीसरा कारण है ।

उदर या नेत्रशूल की तीव्र वेदना—भीपण पीडा से भी (अकस्मात्) मृत्यु हो जाती है । यह चौथा कारण है ॥ ६ ॥

कुम्भचतुष्टय-षट्कम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]कुम्भा कतिप्रकाराः स्युः, चतुर्भङ्गी कथं भवेत्।
कृपया वर्णनं कार्यं, यथाज्ञानं विवर्धते ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

[2]चतुःप्रकारा भगवद्भिः कुम्भाः, प्ररूपिताः सद्गुणदुर्गुणाभ्याम्।
तथा पुमांसोऽपि चतुःप्रकारा, भवन्ति तेषामुपमा शृणु त्वम् ॥२॥

[3]मधुकुम्भः[4] प्रथमो मधु-पिधानयुक्तस्तथैव मनुजो यः।
जिह्वायामपि मधुरो, ह्यपापकलुषस्तथा हृदये ॥३॥

मधुकुम्भः पुनरपरो, गरलपिधानस्तथा मनुष्योऽपि।
जिह्वाया कटुभाषी, किन्तु मनो यस्य निष्पापम् ॥४॥

विषकुम्भः पुनरन्यो, विलसति यो मधुपिधानतः साक्षात्।
कलुषमयं यद्हृदयं, वचने सुतरां च मधुभाषी ॥५॥

विषकुम्भोऽथ चतुर्थो, गरलपिधानेन योऽस्ति संयुक्तः।
कलुषमयं यद्हृदयं, कर्कशभाषी च वचनेऽपि ॥६॥

❀

---

१ अनुष्टुब्वृत्तम्   २ उपजातिवृत्तम्
३ आर्यावृत्तानि   ४ स्थानाङ्ग ४ उ० ४ सूत्र ३६०

कुम्भचतुष्टय-षट्क

जम्बू ने फिर पूछा—

कुम्भ—घडे कितने प्रकार के है ? उनके चार भग किस प्रकार हैं ? कृपया वणन करें, जिमसे मेरा ज्ञान वढे ।।१।।

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

भगवान् ने सद्‌गुण तथा दुर्गुण के आधार पर चार प्रकार के कुम्भ वतलाये हैं। उसी प्रकार पुरुप भी चार प्रकार के हैं। उनकी उपमा सुनो ।।२।।

पहला मधु (शहद) का या माधुर्यमय कुम्भ है, जिसका पिधान ढक्कन भी मधुमय—माधुर्य-सिक्त है। उसी प्रकार मधुमय मनुष्य भी होता है, जो जीभ मे भी —वोलने मे भी मधुर होता हे, तथा जिसका हृदय भी पाप के कालुष्य से रहित होता है— उज्ज्वल व मधुर होता है ।।३।।

एक दूसरा मधु-कुम्भ है, जिसका ढक्कन विपपूर्ण है। उसी प्रकार मनुष्य भी हाता है, जो जीभ से कटुभापी—कडा वोलने वाला है, किन्तु जिसका मन पापरहित —माधुर्यमय है ।।४।।

एक विप-कुम्भ—जहर से भरा घड़ा है, जिसका ढक्कन साक्षात् मधुमय है। उसी प्रकार मनुष्य भी होता हे, जिसके हृदय मे कालुष्य भरा है, पर जो वचन मे अत्यन्त मधुरभापी है।

एक अन्य विप-कुम्भ है, जो विपमय ढक्कन से युक्त है। उमी प्रकार मनुष्य भी होता है। जिमका हृदय कालुष्य-पूर्ण है तथा जो वचन मे भी कर्कशभापी है ।।६।।

❀

दातृचतुष्टय-सप्तकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]काः का अवस्था दातृणा, भिद्यन्ते कतिधा च ता ।
महत्त्वपूर्णं विषयं, प्राकट्यं नीयता विभो ! ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

दातृभावं समालम्ब्य, मेघा सन्ति चतुर्विधा ।[2]
क्षेत्राक्षेत्रादिवर्षित्वा—त्तद्विधा दायका अपि ॥२॥

प्रथमः क्षेत्रवर्षी, नाऽक्षेत्रवर्षी घनाघनः ।
अक्षेत्रवर्षी नामैकः, क्षेत्रवर्षी कदापि न ॥३॥

क्षेत्रवर्ष्यपि तत्रान्य—स्तद्वदक्षेत्रवर्ष्यपि ।
एको न क्षेत्रवर्षी नाक्षेत्रवर्षी घनः स्मृतः ॥४॥

दायकाना तथा भेदाः करणीया मनीषिभिः ।
तथा पात्रे ददात्येको, नैवाऽपात्रे ददाति च ॥५॥

अपरो पात्रदानी नाऽपात्रदानपरायणः ।
पात्रेऽपात्रेऽपि निर्भेदं, दानं दद्यात् तृतीयकः ॥६॥

तुर्यं पात्रे तथाऽपात्रे, न दद्यात्कृपणाशयः ।
एवं मेघोपमानेन, दातृभेदा भवन्त्यहो ॥७॥

※

---

१ अनुष्टुप् वृत्तानि ।   २ स्थानाङ्ग ४, उ ४ सूत्र ४४३ ।

दातृचतुष्टय-सप्तक

जम्बू ने फिर पूछा—

दाताओ की क्या क्या अवस्थाएँ हैं ? उनके कितने भेद हैं ? प्रभुवर ! कृपया इस महत्त्वपूर्ण विषय को प्रकट करें स्पष्ट करें ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया -

दातृभाव के आधार पर मेघ - क्षेत्र- अक्षेत्र आदि मे वरसने के कारण चार प्रकार के हैं। उसीप्रकार दाता भी चार प्रकार के हैं ॥२॥

पहला क्षेत्रवर्षी मेघ है, जो क्षेत्र—उर्वर-भूमि मे वर्षा करता है, अक्षेत्र-ऊपर भूमि मे वर्षा नही करता।

दूसरा अक्षेत्रवर्षी मेघ है, जो अक्षेत्र मे वरसता है, क्षेत्र मे कभी नही वरसता ॥३॥

तीसरा क्षेत्रवर्षी भी है तथा अक्षेत्रवर्षी भी। चौथा न क्षेत्र तथा अक्षेत्र — दोनो मे नही वरसता है ॥४॥

इसी प्रकार बुद्धिमानो को दायको—दाताओ के भेद करने चाहिए। जैसे एक पात्र को देता है, अपात्र को नही। दूसरा अपात्र को देता है, पात्र को नही। तीसरा पात्र तथा अपात्र का भेद न करता हुआ पात्र, अपात्र — दोनो को देता है। चौथा कृपण — भावना युक्त (कजूस) होता है। अत वह न पात्र को देता है और न अपात्र को।

यो मेघ की उपमा से ये दाताओ के भेद (ज्ञातव्य) हैं ॥५।६।७॥

※

पुरुषभेद-पञ्चकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]धर्मकर्मादिभेदेन, पुरुषा कतिधा मता ।
तद्भेदाना परिज्ञानाद्, याथार्थ्यमनुभूयते ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच—

त्रिविधा पुरुषा[2] उक्ता—स्तत्तद्गुणविशेषणै ।
उत्तमा मध्यमास्तद्वद्, जघन्या पुरुषा पुन ॥२॥

उत्तमास्त्रिविधास्तत्र, धर्माद् भोगाच्च कर्मण ।
अर्हन्तो धर्मपुरुषा—श्चक्रिणो भोगपुरुषा ॥३॥

तृतीया कर्मपुरुषा, वासुदेवा महाबलाः ।
पुरुषेषूत्तमा एवं त्रयोऽप्येते प्रवेदिता ॥४॥

मध्यमा उग्रभोगाद्या, राजन्या परिकीर्तिता ।
जघन्या दासभृत्याद्या, भागिनोऽपि तथापरे ॥५॥

※

---

१ अनुष्टुप् छन्दांसि । २ स्थानाङ्ग ३. उ १. सूत्र १७४ ।

पुरुषभेद-पंचक

जम्बू ने फिर पूछा—

धर्म, कर्म आदि के भेद मे पुरुष कितने प्रकार के माने गये है ? उनके भेदो के ज्ञान से यथार्थता का पता चलता है। कृपया बतलाएँ ॥१॥

उन-उन गुणो की विशेषता के कारण तीन प्रकार के पुरुष बताये गए हैं— उत्तम, मध्यम तथा जघन्य ॥२॥

धर्म, भोग तथा कर्म की अपेक्षा से उत्तम पुरुष तीन प्रकार के है। अर्हत् उत्तम धर्म-पुरुष हैं, चक्रवर्ती उत्तम भोग-पुरुष हैं तथा वासुदेव महाबलशाली उत्तम कर्म-पुरुष हैं।

इस प्रकार ये तीनो पुरुषों मे उत्तम माने गये है ॥३।४॥

उग्र—क्षत्रिय जाति विशेष (आरक्षक वर्ग) भोग (मन्त्री आदि शासन-चालक) तथा राजन्य-(राजवंशीय-लगभग सम स्थिति के लोग सामन्त आदि) मध्यम कहे गये हैं।

सेवक, भृत्य, भागीदार या सम्बन्धी जघन्य श्रेणी मे आते हैं ॥५॥

●

इन्द्रत्रय-पञ्चकम्

पुनर्जम्बू पृच्छति स्म—

[1]इन्दनादिन्द्र इत्युक्त—स्ते स्मृता कतिधा जिनैः ।
द्रव्यभावादिभेदेन, व्यञ्जयन्तु कृपालव ॥१॥

सुधर्मा स्वामी प्रत्युवाच--

द्रव्यदृष्ट्या तु त्रिविधा[2] इन्द्रा प्रोक्ता जिनागमे ।
सुरेन्द्रा असुरेन्द्राश्च, नरेन्द्राः स्फुटमेव च ॥२॥

तत्त्वदृष्ट्यापि त्रिविधा, इन्द्रा खलु प्रवेदिताः ।
ज्ञानेन्द्रा दर्शनेन्द्राश्च, चारित्रेन्द्रा विशेषत ॥३॥

केवलज्ञान संयुक्ता, ज्ञानेन्द्रा परिलक्षिता ।
तद्वत् क्षायिकसम्यक्त्वधारिणो दर्शनेश्वराः ॥४॥

चारित्रेण यथाख्याता- श्चारित्रेन्द्रा महर्षयः ।
एवमिन्द्रत्रयी द्रव्य- भावभेदैर्विभाव्यताम् ॥५॥

●

---

१ अनुष्टुप् वृत्तानि । २ स्थानाङ्ग ३ उ १ सूत्र १

इन्द्रत्रय-पञ्चक

जम्बू ने फिर पूछा—

इन्दन—ऐश्वर्य मूलक व्युत्पत्ति से इन्द्र (इदि परमैश्वर्ये, इन्दतीति इन्द्र) शब्द निष्पन्न हुआ है। वीतराग भगवान ने कितने प्रकार के इन्द्र बतलाये है। कृपा कर द्रव्य (द्रव्येन्द्र) तथा भाव (भावेन्द्र) आदि के भेद से विवेचन करें ॥१॥

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—

जैन आगम मे द्रव्य-दृष्टि से तीन प्रकार के इन्द्र बतलाये गये है - सुरेन्द्र, असुरेन्द्र तथा नरेन्द्र, जिनका आशय स्पष्ट है ॥२॥

तात्त्विक दृष्टि से भी इन्द्र तीन प्रकार के बतलाये गये हैं—ज्ञानेन्द्र, दर्शनेन्द्र तथा चारित्रेन्द्र ॥३॥

जो केवलज्ञान (सर्वज्ञता) से सयुक्त होते हैं, वे ज्ञानेन्द्र कहे गये हैं। उसी प्रकार जो क्षायिक सम्यक्त्व के धारक होते है, वे दर्शनेन्द्र तथा जो यथाख्यातचारित्र-सम्पन्न होते है, वे महामुनि चारित्रेन्द्र कहे गये है।

यो द्रव्यात्मक तथा भावात्मक भेद से तीन इन्द्र समझें ॥४।५॥

आगम-सुभाषितानि

[1]यथा द्विरेफो रसमापिबन् सन्, पुष्पाणि न क्लामयति द्रुमस्य ।[2]
प्रीणाति चात्मानमसौ तथैव, गृह्णन् मुनिर्माधुकरी जनेभ्य ॥१॥

प्रेक्षावतो साधुपथि स्थितस्य, मुनेर्मनो जातु भवेद्विकारि ।
न साऽस्ति मे नाप्यहमस्मि तस्या, इतीव राग विनयेन्मुनीन्द्र.[3] ॥२॥

व्रजन्ति या या क्षणदा न तास्ता, पुन परावर्तयितु हि शक्या ।
अधर्ममाराधयता नराणा, भवन्ति नून विफला निशास्ता ॥३॥

व्रजन्ति या या[4] क्षणदा न तास्ता, पुन परावर्तयितुं हि शक्या ।
सद्धर्ममाराधयता नराणा, भवन्ति नूनं सफला निशास्ता ॥
(युग्मम्)

शल्य हि कामा विषमेव कामा, आशीविषेणोपमिताश्च कामा ।
ये प्रार्थयन्ते किल कामभोगान्, ते दुर्गतिं यान्तितमामकामाम्[5] ॥५॥

विलापतुल्य सकलं हि गीत, विडम्बनामात्रमिहास्ति नाट्यम् ।
सर्वाण्यहो ! आभरणानि भारा, भयावहा सन्ति समेऽपि कामा[6] ॥६॥

यथा प्रदीप्ते सदनेऽनलेन[7], महामतिस्तस्य विभुर्गृहस्य ।
निनीषते सारपदार्थजात - मसारभाण्डानि पुरा विहाय ॥७॥
तथा जरामृत्युमयेन वह्निना, जाज्वल्यमानेऽखिलजीवलोके ।
ज्ञानी स्वमात्मानमनाकुलं वहि- र्नयेत् परद्रव्यशतानि मुक्त्वा ॥८॥
(युग्मम्)

---

१ उपजाति वृत्तानि ।
२ दशवै० अ १ गाथा २-३ ।
३ दशवै० अ २ गाथा ४
४ उत्तराध्ययन अ १४ गाथा २४-२५ ।
५ उत्तराध्ययन अ ९ गाथा ५३ ।
६ उत्तराध्ययन अ १३ गाथा १६ ।
७ उत्तरा० अ १९, गाथा २३-२४ ।

आगम-सुभाषितानि

भौंरा जिसप्रकार रस का पान करता हुआ अपने को परितुष्ट करता है, पर वृक्ष के पुष्पों को क्लान्त नहीं बनाता, उसी तरह मुनि लोगों मे माधुकरी—(मधुकर की तरह) भिक्षा ग्रहण करता हुआ अपने को तुष्ट करता है, लोगो को क्लान्त-पीडित नहीं करता—उनके लिए असुविधा पैदा नही करता ॥१॥

साधना-मार्ग मे स्थित, विवेकशील भिक्षु का मन यदि कभी विकृत हो जाए—किसी अगना मे मोहित हो जाय तो यह चिन्तन करे कि वह मेरी नही है तथा न मैं उसका हूँ, वह मुनि अपनी रागात्मक भावना का नियमन करे ॥२॥

जो-जो रातें बीत जाती हैं, वे फिर वापस नही लौट सकती। अधर्म का आचरण करने वालो की रातें निश्चय ही निष्फल जाती हैं ॥३॥

जो जो रातें बीत जाती हैं, वे फिर वापस नही लौट सकती। सद्धर्म की आराधना करने वालो की रातें नि सन्देह सफल बीतती हैं ॥४॥

काम-शल्य हैं अर्थात् काटे के समान कष्टकर हैं, विष है, वे आशीविष—'दाढा विष' सर्प के समान हैं। जो काम-भोग की चाह करते है, वे अनिष्टकर दुर्गति प्राप्त करते है ॥५॥

जगत मे समग्र गीत विलाप के तुल्य हैं। नृत्य केवल विडम्बना है। सभी आभूषण भार हैं। सभी काम (कामनाएँ) भय-जनक हैं ॥६॥

जैसे यदि घर मे आग लग जाय तो विशेष बुद्धिमान गृह-स्वामी नि.सार (अत्यल्प मूल्य) बर्तन-भाडो को छोड कर पहले सारभूत (बहुमूल्य) पदार्थों को बाहर निकालना चाहता है। उसीप्रकार वृद्धावस्था तथा मृत्यु रूपी अग्नि मे जलते हुए समग्र जीव लोक मे सैकडो पर-पदार्थों को छोडकर ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह अपनी आत्मा को—अपने आप को अनाकुल भाव से वहाँ से बाहर निकाले ॥७।८॥

न मुण्डनेन श्रमणो भवेद्धि, न ब्राह्मणश्चोमिति जल्पनेन।
नारण्यवासेन तथा मुनि स्याद्, न तापसो वल्कलचीवरेण ॥९॥

भवेत् समत्वात् श्रमण समन्तात्, स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मगुणैकनिष्ठ।
सज्ज्ञानयोगान्मुनिपुङ्गवो हि, तपस्यया तापसतामुपैति[1] ॥१०॥
(युग्मम्)

आचारप्रज्ञप्तिधरं[2] मुनीन्द्रं सद्दृष्टिवादस्य विवेदितारम्।
छाद्मस्थ्यतो वाक्स्खलितं विलोक्य त तत्त्वविन्नोपहसेत् कदापि ॥११॥

क्रोधं च मान च तथैव माया, लोभं च पापेन विवर्द्धमानम्[3]।
वमेन्मुनिदोषचतुष्टयं यो, गवेपयन्नात्महितं समन्तात् ॥१२॥

विनाशयेत् प्रीतिमुदग्रकोपो, मानेन नाशो विनयस्य साक्षात्।
मित्राणि निर्णाशयते च माया, लोभो नृणा सर्वविनाशकोऽत्र[4] ॥१३॥

यावज्जरा पीडयते न देहं, व्याधिर्न यावत् परिवर्धते[5] च।
यावन्न हीनानि वतेन्द्रियाणि, तावद्धि धर्माचरण कुरुष्व ॥१४॥

अत्येति कालस्त्वरयन्ति[6] रात्रयो, न चापि भोगा नियता नराणाम्।
उपेत्य भोगा पुरुप त्यजन्ति, द्रुम यथा क्षीणफल विहङ्गा ॥१५॥

ये चास्रवास्तेऽपि परिस्रवा स्यु, परिस्रवा आस्रवता श्रयन्ति[7]।
गौणानि वाह्यानि निवन्धनानि, भावानुरूपौ किल वन्धमोक्षौ ॥१६॥

मित्र त्वमेवास्ति निजात्मनोऽत्र, मित्राणि किं मार्गयसे वहिस्तात्।[8]
मित्रन्त्यमित्रन्ति च तानि हेतून् स्वीकृत्य मैत्री ध्रुवमात्मनोऽस्ति ॥१७॥

---

१ उत्तराध्ययन २५।३१-३२
२ दशवै० अ ८, गाथा ५०।
३ दशवै० अ ८ गाथा ३७
४ दशवै० अ ८ गाथा ३८।
५ दशवै० अ ८ गाथा ३६
६ उत्तरा० अ १३ गाथा ३१
७ आचाराङ्ग अ ४ उ २, सूत्र २३१
८ आचाराङ्ग अ ३ उ ४ सूत्र २०२।

सर मुडाने से श्रमण नही होता वैसे ही ओंकार के जाप से ब्राह्मण नही होता। जगल मे निवास करने से मुनि नही होता और वल्कल के वस्त्र धारण करने से तापस नही होता। वास्तव मे समता से श्रमण होता है। ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है। श्रेष्ठ ज्ञान के योग से ही मुनि होता है और तपस्या से तापस बनता है ॥९।१०॥

आचार-(आचाराग) प्रज्ञप्ति-(भगवती) के धारक तथा दृष्टिवाद के वेत्ता मुनि की वाणी यदि छद्मस्थता के कारण स्खलित हो जाए तो उसे देख तत्त्व-वेत्ता कभी उपहास न करे ॥११॥

मुनि सर्वथा आत्म-कल्याण की गवेषणा करता हुआ क्रोध, मान, माया तथा लोभ, जो पाप से बढता है— इन चार दोषो को वमन की तरह अपने से बाहर निकाल दे ॥१२॥

तीव्र क्रोध प्रीति को विनष्ट कर डालता है। मान से विनय का नाश हो जाता है। माया मित्रो का नाश कर देती है—मायावी के कोई मित्र नही रहता। लोभ मनुष्यो के लिए जगत् मे सर्वनाशकारी है ॥१३॥

जब तक वृद्धावस्था देह को पीडित न करे, जब तक रोग न बढे, जब तक इन्द्रियाँ शक्ति-शून्य न हो जायँ, तब तक धर्म का आचरण कर लो ॥१४॥

समय बीतता जा रहा है, राते भागी जा रही है, मनुष्यो के लिए भोग नियत नही है—भोग अनियत या अनिश्चित हैं। जिस प्रकार फलो का क्षय (नाश) हो जाने पर पक्षी वृक्ष को छोडकर चले जाते हैं, उसी तरह प्राप्त भोग पुरुष के नि सत्त्व-खोखला हो जाने पर उसे छोडकर चले जाते है ॥१५॥

जो आस्रव हैं—कर्मबन्धन के हेतु हैं वे परिस्रव-कर्मो को काटने के हेतु बन जाते हैं। वैसे ही जो परिस्रव हैं, वे आस्रव बन जाते हैं। बाहरी बन्धन गौण हैं, वस्तुत भावो के अनुसार ही बन्ध तथा मोक्ष होता है ॥१६॥

तुम ही अपनी आत्मा के - अपने आपके मित्र हो, बाहर क्या मित्र खोज रहे हो। कारण विशेष से मित्र भी अमित्र बन जाते हैं—यथार्थ मैत्री आत्मा की ही—अपने आप की ही है ॥१७॥

वाह्या क्रिया क्लेशफला हि तावत्, यावत् प्रकाशी न विवेकदीप ।
धर्मो विवेके[1] कथितो जिनेन्द्रै—र्विवेकशून्यं सममप्रशस्तम् ॥१८॥

इदं त्वसंभाव्यतम जगत्या, शब्दा न कर्णातिथयो भवेयु ।
द्वेषस्य रागस्य विवर्जन यत्, शक्यं तदेवाचरयेन्मुनीन्द्र ॥१९॥

इद त्वसंभाव्यतमं[2] जगत्या, रूपाणि नो दृष्टिपथं व्रजेयु ।
द्वेषस्य रागस्य विवर्जनं यत्, शक्य तदेवाकलयेन्महात्मा ॥२०॥

इद त्वसंभाव्यतमं जगत्या, घ्राण न गन्धग्रहणं च कुर्यात् ।
द्वेषस्य रागस्य विवर्जनं यत्, शक्यं तदेवामनति व्रतीन्द्र ॥२१॥

इदं त्वसंभाव्यतमं जगत्या, जिह्वा रसज्ञानविवर्जिता स्यात् ।
द्वेषस्य रागस्य विवर्जनं यत्, शक्यं तदेवात्र मुनिर्विदध्यात् ॥२२॥

इदं त्वसंभाव्यतम जगत्या यत्स्पर्शनं स्पर्शविवेकशून्यम् ।
द्वेषस्य रागस्य विवर्जनं यत्, शक्यं विधातुं कुरुता तदेव ॥२३॥
(पञ्चभि कुलकम)

केचिद् वयःस्था अपि साधुभावं, सम्यक प्रपन्ना सुरभावमीयु ।
येषां प्रियं ब्रह्म तप क्षमा च, सुसयम सप्तदशप्रकार[3] ॥२४॥

मुनिर्भवेद्योऽत्र तप[4]प्रसक्त सारल्यमूर्ति क्षमताप्रधान ।
परीषहान् जेतुमलंभविष्णु—स्तादृग् ध्रुवं सद्गतिमाश्रयीत ॥२५॥

साताकुलो योऽत्र निकामशायी, तद्वत् सुखास्वादनलोलुपश्च ।
उत्क्षालनाद्देहविभूषको वा, तादृङ्मुनि सद्गतिमाश्रयेन्न ॥२६॥

---

१ विवेगे धम्ममाहिए ।
२ आचाराङ्ग चूलिका — सूत्र १०५९ । १०६२ । १०६४ । १०६८ । १०७१ ।
३ दशवै० अ ४ गाथा २८ । ४ दशवै० अ ४ गाथा २७ ।
५ दशवै० अ ४ गाथा २६ ।

जब तक ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशित नही होता, तब तक वाह्य क्रियाएँ तत्त्वत केवल क्लेशात्मक फल देने वाली ही हैं। वीतराग भगवान् द्वारा विवेक मे ही धर्म बताया गया है। विवेक रहित सब कुछ अप्रशस्त है ॥१८॥

जगत् मे यह सर्वथा असभव है कि शब्द कर्ण गोचर न हो—न सुने जायँ। वहाँ द्वेष तथा राग का परिवर्जन ही शक्य है—उनमे द्वेषात्मक तथा रागात्मक सम्बन्ध न जोडा जाय, यही सभाव्य है। महामुनि को वैसा ही करना चाहिए।

जगत् मे यह सर्वथा असभव है कि रूप दृष्टिपथ मे न आए—न देखे जाएँ। वहाँ द्वेष तथा राग का परिवर्जन ही शक्य है। सत्त्व-सम्पन्न साधक को वैसा ही करना चाहिए।

जगत् मे यह सर्वथा असभव है कि नासिका गन्ध का ग्रहण न करे। वहाँ द्वेष तथा राग का परिवर्जन ही शक्य है। महाव्रती ऐसा अभ्यास करता है, तदनुरूप आचरण करता है।

जगत् मे यह सर्वथा असभव है कि जिह्वा रस के ज्ञान से विवर्जित हो जाए। वहा द्वेष तथा राग का परिवर्जन ही शक्य है। मुनि वैसा ही करे।

जगत् मे यह सर्वथा असभव है कि स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श-ज्ञान से शून्य हो जाए। वहा द्वेष तथा राग का परिवर्जन ही शक्य है। मुनि वैसा ही करे ॥१६।२०।२१।२२। २३॥

कई युवावस्था मे ही साधुत्व प्राप्त कर, इसका यथावत् पालन कर स्वर्ग-गामी हुए, जिन्हे ब्रह्मचर्य, तप, क्षमा तथा सत्रह प्रकार का सयम प्रिय था ॥२४॥

जगत् मे जो मुनि तप मे सलग्न रहता है, अत्यन्त सरल तथा धैर्यशील होता है, जो परिग्रहो को जीतने मे सुसमर्थ होता है, वह निश्चय ही सद्गति प्राप्त करता है ॥२५॥

जो मुनि साता-सुविधा के लिए आकुल रहता है, जो बहुत सोता है, सुख-भोग मे लोलुप बना रहता है, हाथ-पैर आदि को बार-बार—धोकर देह की विभूषा-सज्जा करता है— वैसा मुनि सद्गति प्राप्त नहीं करता ॥२६॥

एकस्य बोधेन समस्य बोध, समस्य बोधेन हि चैकबोध ।
अहो ! विचित्रा जिनराजसूक्तिरात्मावबोधे विदिता त्रिलोकी[१] ॥२७॥

हस्तौ मदीयौ चरणौ मदीयौ, बाहू तथोरू जठरं मदीयम् ।
श्रोत्रे च नेत्रे रसना मदीया, मूढो ममत्व कुरुते नितान्तम् ॥२८॥

परन्त्वतीते समये तदस्य, क्षीणानि सर्वाणि भवन्त्यमूनि ।
अङ्गानि शैथिल्यगतिं प्रयान्ति, कृष्णा कचा स्यु पलिता समन्तात् ॥२९॥
(युग्मम्)

इद सुभोज्योपचितं शरीरं, सुरक्षितं रत्नकरण्डतुल्यम् ।
पूर्णेऽवधौ हा ! त्यजनीयमेव, तदा परेषा कथन किमस्ति[२] ॥३०॥

गर्भेऽपि केचिन्मृतिमाप्नुवन्ति[३], तथार्भका पंचशिखा कुमारा ।
केचिद् युवान स्थविराश्च केचित्, सर्वास्ववस्थासु कृतान्तभीति ॥३१॥

महातडागस्य[४] यथा निरुद्धे, जलागमे नैव जलप्रवेश ।
तथा जलोत्सिचनयातपेन, क्रमेण शोप सरसो भवेद्धि ॥३२॥
अनाश्रवस्य व्रतिनस्तथैव, नह्यागमो नूतनकर्मणा तु ।
पुरातन कर्मनिबद्धमाशु, निर्जीर्यते घोरतपस्यया तत् ॥३३॥
(युग्मम्)

न कामभोगा शरणाय नूनं, पूर्वं नरो जातु जहाति चैतान् ।[५]
जहत्ययैते नरमेव पूर्वं, किमङ्ग ! मूर्च्छावशगा वय स्म· ॥३४॥

त्राणाय नो वा शरणाय ज्ञाति-सम्बन्धबन्धा पुरुषस्य लोके ।
त्यजेन्नरस्तानथवा नर ते, मूर्च्छा किमेतेषु वय भजाम ॥३५॥

---

१ आचाराङ्ग, अ २ उ० ४ सूत्र २०६ । २ सूत्रकृताङ्ग २ । १ । १३
३ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १ अ ७ गाथा १० । ४ उत्तराध्ययन अ. ३० गाथा ५-६ ।
५ सूत्रकृताङ्ग श्रु. २ अ. १ सूत्र १३ ।

एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है, सबके ज्ञान से एक का ज्ञान होता है। आश्चर्य है! वीतराग भगवान् की यह सूक्ति कितनी अनूठी है! वस्तुत. आत्मा को जान लेने पर तीनो लोक जान लिये जाते हैं ॥२७॥

हाथ, पैर, भुजाएँ, जघाए, पेट, कान, नेत्र, जिह्वा—ये सब मेरे अपने हैं—मूढ-मोह-मुग्ध या अज्ञानी यों अत्यन्त ममत्व रखता है।

परन्तु समय बीतने पर ये सब क्षीण—अशक्त हो जाते हैं। शरीर के अग शिथिल (ढीले) पड जाते ह। काले केश बिलकुल सफेद हो जाते हैं ॥२८।२९॥

अच्छे-अच्छे खाद्य-पदार्थों मे जिसे परिपुष्ट, परिवर्द्धित किया, रत्न-मजूषा (जवाहिरात की पेटी) की तरह जिसकी रक्षा की, वह शरीर भी अवधि—आयुष्य-काल पूर्ण होने पर छोडना पडता है, औरो की तो बात ही क्या ॥३०॥

कई गर्भ मे ही मर जाते हैं, कई पञ्चशिख[1] शैशव मे, कई कौमार्य मे, कई युवावस्था मे तथा कई वृद्धावस्था मे मर जाते हैं। सभी अवस्थाओ मे मृत्यु का भय बना रहता है ॥३१॥

विशाल सरोवर मे जल आने का मार्ग रोक देने से जल का प्रवेश बन्द हो जाता है। सचित जल को उलीच कर फेंकने तथा धूप द्वारा उसके सूख जाने से तालाब सर्वथा शुष्क जल-रहित हो जाता है।

उसी प्रकार जो व्रती आस्रव-रहित होता है, उसके नये कर्मों का बन्ध नही होता है। अज्ञान द्वारा सचित पुरातन कर्म उग्र तप से शीघ्र निर्जीर्ण हो जाते हैं—झड जाते हैं ॥३२।३३॥

काम-भोग शरण-रूप नही होते—वे रक्षा नही कर सकते। पहले मनुष्य कदाचित् इन्हे छोडे अर्थात् मनुष्य इन्हे छोडने मे पहल करे अथवा ये मनुष्य को पहले ही छोड देते है। फिर हम मूर्च्छा—आसक्ति के वशीभूत क्यो हो ?।३४॥

जाति-परिवार के सम्बन्धो मे बधे हुए लोग भी मनुष्य के लिए त्राण-रक्षा—बचाव या शरण नही है। वास्तविकता यह ह—या तो वह मनुष्य उन्हे छोड देता है अथवा वे उस मनुष्य को छोड देते हैं, उनमे हम मूर्च्छित-मोहासक्त क्यो बने ॥३५॥

---

१ शिशु के बालो को पाँच शिखाओ या भागो मे विभक्त कर सजाने की एक प्राचीन भारतीय प्रथा।

अतिकटुमपि[1] निम्बं तद्भवः क्षुद्रकीटः,
सुमधुरमिति मत्वा सेवते तत्परः सन्।
तदिव विषयसौख्यं मोक्षसौख्यानभिज्ञः,
बहुसुखमिति मत्वा सेवते मोहमत्तः ॥३६॥

मित्राणि दारास्तनुजास्तथैव, सद्बान्धवा प्रीतिमुदीरयन्तः।
जीवन्तमेवानुपदं भ्रमन्ति, नानुव्रजन्तीह मृतं कदापि ॥३७॥

निःसारयन्ति द्रुतमेव पुत्राः, मृतं स्वबप्पारमनल्पदुःखाः।[2]
तथैव पुत्रान् पितरो गतासूनितीव विज्ञाय कुरुष्व धर्मम् ॥३८॥ (युग्मम्)

तदेककं तुच्छशरीरमाशु[3], चितागतं हा! ज्वलनेन दग्ध्वा।
भार्या च पुत्रः स्वजनो जगत्या, दातारमन्यं परिसंक्रमन्ति ॥३९॥

पाथेयवर्जं निगमं महान्तं, गन्तुं जडः साहसमादधाति।
गच्छन् स मार्गे खलु दुःखितः स्याद्, निपीडितो घोरतृषाक्षुधार्त्या ॥४०॥

तथा ह्यकृत्वा शुभधर्मकार्यमतत्त्ववित्प्रेत्यभवं प्रयाति।
गच्छन् स मार्गे खलु दुःखितः स्यान्निपीड्यमानो बहुरोगशोकैः ॥४१॥
तथैव कश्चिन्निगमे प्रलम्बे, पाथेययुक्तो गमनं करोति।
गच्छन् स मार्गे सुखितः परं स्याद्, विवर्जितो घोरतृषाक्षुधार्त्या ॥४२॥
तथैव कृत्वा शुभधर्मकार्यं, कश्चिद् गुणी प्रेत्यभवं प्रयाति।
गच्छन् स मार्गे सुखितः परः स्यादवेदनस्तद्वदनल्पकर्मा[4] ॥४३॥
[चतुर्भिः कुलकम्]

दावाग्निना प्रज्वलिते ह्यरण्ये, यज्जन्तुजातेषु दहत्सु सत्सु।
सत्त्वास्तथान्ये[5] प्रमदं वहन्ति, मृतिं स्वकीयामविचारयन्तः ॥४४॥
तथा वयं मूढधियाऽत्र विष्वग्, यद्रागरोषज्वलनेन साक्षात्।
दन्दह्यमानं भुवनं समस्तं, नेक्षामहे कामगुणेषु सक्ताः ॥४५॥ (युग्मम्)

---

१ मरणसमाधिप्रकीर्णक गाथा ६५५। २ उत्तराध्ययन, अ. १८ गाथा १४-१५
३ उत्तराध्ययन अध्ययन १३ गाथा २५। ४ उत्तराध्ययन अ. १९ गाथा १९ से २२ तक।
५ उत्तराध्ययन अ. १४ गाथा ४२-४३।

अत्यन्त कडुए नीम को, उसमे उत्पन्न हुआ छोटा सा कीडा मीठा मान कर तन्मयतापूर्वक सेवन करता है—उसमे रहता है। उसी की तरह मोक्ष-सुख को नही जानने वाला पुरुष सासारिक भोगो के सुख को बहुत बडा सुख मानकर मोह मे मत्त (पागल) होता हुआ उनका सेवन करता है ॥३६॥

मित्र, स्त्री, पुत्र तथा बन्धु-बान्धव पुरुष के जीते-जी ही प्रेम प्रकट करते हुए पीछे पीछे घूमते है। उसके मर जाने पर वे कदापि उसके पीछे नही जाते ॥३७॥

अत्यन्त दुखित पुत्र अपने मृत पिता को शीघ्र ही (घर से) निकाल देते हैं (श्मशान मे ले जाते है)। माता-पिता भी अपने पुत्रो को मृत जानकर (उनके मर जाने पर) वैसा ही करते है ॥३८॥

बडे दुख की बात है, मृत पुरुष के एक मात्र तुच्छ शरीर को चिता मे रख-कर, आग मे जलाकर पत्नी, पुत्र, पारिवारिक जन ससार मे किसी दूसरे (जिससे उनका स्वार्थ पूरा होता हो) दाता के पास जाने लगते है ॥३६॥

एक मन्द बुद्धि मनुष्य पाथेय—मार्ग का भोजन लिये बिना ही लम्बी यात्रा पर जाने का दुसाहस करता है। वह मार्ग मे चलते-चलते भयानक प्यास तथा भूख की पीडा से व्याकुल होता हुआ निश्चय ही दुखी बन जाता है। उसी तरह तत्त्व-यथार्थ सत्य से अनजान मनुष्य शुभ-धर्म-कार्य का सम्पादन न कर, मर कर भव-भ्रमण (ससार मे आवागमन—जन्म-मरण) प्राप्त करता है। जीवन-यात्रा के पथ पर चलता हुआ वह अनेक प्रकार के रोग-शोक मे पीडित होता है, दुख पाता है। वैसे ही कोई साथ मे पाथेय लिए लम्बी यात्रा पर प्रस्थान करता है। वह मार्ग मे चलता हुआ कष्टप्रद भूख-प्यास की पीडा से बचा रहता है, बहुत आराम मे रहता है। उसी प्रकार कोई गुण-सम्पन्न पुरुष पवित्र धर्म-कार्य का सम्पादन कर, मर कर उच्च योनि मे नया जन्म धारण करता है—उच्च गति मे जाता है। वह वेदना-रहित एवं अल्प कर्मभार वाला जीवन यात्रा मे चलता हुआ सुखी रहता है पुष्कल पुण्य-सम्भार के कारण कष्ट नही पाता ॥४०।४१।४२।४३॥

वन मे भयानक आग लग जाने पर प्राणियो के झुण्ड के झुण्ड जलते देखकर भी कई जीव अपनी मौत का विचार न करते हुए हर्षोन्मत्त बने रहते है।

उसी प्रकार हम जो काम,भोग मे आसक्त है, राग-द्वेष ओर मे जलते हुए ससार को अपनी बुद्धि की मूढता वश आर्य ? देख ? है ॥४४।४५॥

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्ति

प्राणप्रतिष्ठा जिनशासनस्य, कृता धृता धर्मधुरा निजासे ।
महामनस्वी विंकटस्तपस्वी, भिक्षुर्गणी मे भवतात् शरण्यः ॥१॥

आचारपक्षो विमलो यदीयो, विचारपक्ष कुशलो यदीय ।
दृढव्रती सत्यरति समन्ताद्, भिक्षुर्गणी मे भवतात् सहायः ॥२॥

भारमलो गणनाथो, पदे द्वितीये ततश्च ऋषिराजः ।
जीतमलस्तुर्यासिननाथ समयाब्धिनिष्णात ॥३॥

मघवा माणकलालो, डालमचन्द्र क्रमेण गणपाला ।
अथाष्टमो मे दीक्षा - शिक्षागुरुराड् गणि कालूः ॥४॥

यत् किंचिन्मयि नव्य, भव्य प्रस्फुरति तद्गुरो कृपया ।
मृद्घटभावं श्रयते, स हि महिमा कुम्भकारस्य ॥५॥

अधुना नवमाचार्या - स्तुलसीगणपा यशस्विनो लोके ।
क्षेत्रज्ञा समयज्ञा, परिजृम्भन्नवनवोन्मेषा ॥६॥

या निर्वाणशताब्दी, वीरजिनेशस्य पंचविंशाङ्का ।
महोत्सवस्तद्विषयं, स्वीकृत्याभूत् प्रतिस्थानम् ॥७॥

तद्गौरवेण विनता, प्रकाशमाप्ता अनेकशो ग्रन्था ।
नानाकविजनलिखिता, विन्नमत्तात्पर्यरुचिराभा ॥८॥

ग्रन्थकर्ता की प्रशस्ति

जिन्होने जिन-शासन की प्राण-प्रतिष्ठा की, धर्म की धुरा-भार अपने कन्धो पर धारण किया, जो महान् प्रज्ञा-सम्पन्न और उग्र तपस्वी थे, वे आचार्य भिक्षु मेरे लिए शरण्य—शरणप्रद हो ॥१॥

जिनका आचार-पक्ष निर्मल था, जिनका विचार पक्ष कौशलपूर्ण—समुचित व समृद्ध था, जो व्रतो मे दृढ थे, जो सर्वथा सत्यानुरागी थे, वे आचार्य भिक्षु मेरे लिए साहाय्यप्रद हो ॥२॥

उनके उत्तराधिकारी दूसरे आचार्य श्री भारमल जी थे, तीसरे आचार्य श्री ऋषिराय जी (श्री रायचन्द जी) थे, चौथे आचार्य श्री जीतमल जी (जयाचार्य) हुए, जो आगम-महोदधि मे निष्णात—महान् आगमवेत्ता थे ॥३॥

तत्पश्चात् क्रमश श्री मघवा गणी - श्री मघराज जी, श्री माणकलाल जी तथा श्री डालचन्द जी आचार्य पद पर अधिष्ठित रहे ॥४॥

आठवें आचार्य मेरे दीक्षा तथा शिक्षा-गुरु श्री कालू गणी—श्री कालूरामजी थे। मुझ मे जो कुछ विशेषता, योग्यता है, वह उन गुरुवर की कृपा का फल है। यह कुम्भकार की ही महिमा या विशेषता है कि मिट्टी घट का रूप ले लेती है ॥५॥

वर्तमान मे नवम आचार्य श्री तुलसीगणी - श्री तुलसीराम जी है, जिनकी कीर्ति लोक-विश्रुत है, जो क्षेत्रज्ञ तथा समयज्ञ है, जो (अध्यात्म के क्षेत्र मे) नना भिनव विकास प्रकाश उद्भावित-प्रसारित कर रहे हैं ॥६॥

यह भगवान् महावीर की २५ वी निर्वाण-शताब्दी का वर्ष है, जिसे उद्दिष्ट कर प्रत्येक स्थान मे महोत्सव आयोजित हुए ॥७॥

विभिन्न कवियो—विद्वानो द्वारा रचित, भगवान् महावीर के ——— विस्तार करने वाले, रुचिर भाव- पूर्ण अनेक ग्रन्थ प्रकाश मे आये ॥ ८ ॥

वर्धमानसच्छिक्षा - सूत्राण्यादाय भूरिशास्त्रेभ्य ।
इयं विरचिता रचना, सरला सुगमा सुबोधार्था ॥९॥

इदं तदीयं वस्तु, पुनरप्युपदीकरोमि तत्पुरत ।
गृहीतमुदधेर्नीरं, पश्चादुदधौ समाविशति ॥१०॥

प्राकृतवागनभिज्ञा, सन्त्यपरे भूरिशोऽपि विद्वास ।
एता कृति पठन्तो, ज्ञास्यन्ते तत्त्वमार्हन्त्यम् ॥११॥

स्थलीप्रदेशाच्चलिता, गालवनगरे कृता चतुर्मासी ।
अपरा विरलानगरे, धर्मोत्साहो विवृद्धोऽभूत् ॥१२॥

कृत्वा ततो विहारं, सम्मिलिता उत्सवेऽद्रिदुर्गभवे ।
गालवनगरे गन्तु, पुनराज्ञाभूत् विशिष्टतरा ॥१३॥

चतु शती क्रोशाना, गमनागमनेऽपतन्मुनीना यत् ।
जनश्रुति सत्याभूद्, भक्त्यायत्तो भवेद् भगवान् ॥१४॥

यत्रारब्धो ग्रन्थ, पूर्ति प्राप्त पुन स तत्रैव ।
मानवमन्दिरमध्ये, कल्याण मङ्गलं भूयात् ॥१५॥

शुभमवति कर गुप्ति[3]—व्योमाऽ[0]क्षिग[2]-वत्सरे च शुचिमासे ।
मितषष्ठ्या सम्पूर्ण, काव्यमिद सर्वतोभद्रम् ॥१६॥

केवलमुनितनुजेन, कनिष्ठभ्रात्रा तथैव धन्यर्षे ।
चन्दनेन मुनिनेय, रचना सम्पूर्तिमानीता ॥१७॥

मङ्गलमूर्तेर्मङ्गलमयवर्षे मङ्गले च कार्येऽस्मिन् ।
प्रवर्तमान सुतरा — मभवमहं मङ्गलं परित ॥१८॥

॥ इति वर्धमान-शिक्षा-सप्तशती ॥

भगवान् वर्धमान—महावीर द्वारा दिये गए उत्तम शिक्षा-सूत्रों को अनेक ग्रन्थों से आकलित कर इस सरल, सुगम तथा सुबोध्य कृति का मैंने प्रणयन किया ॥ ॥

यह उन्ही (भगवान् महावीर) की वस्तु है, मैं उन्ही को उपहृत—समर्पित करता हूँ। जैसे समुद्र मे लिया गया जल फिर वापस समुद्र मे ही समाविष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

ऐसे बहुत से विद्वान् है, जो प्राकृत-भाषा के अभ्यासी नही हैं। इस कृति को पढकर वे अर्हत्—भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित तत्त्व—जैन तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ॥ ११ ॥

स्थली - थली प्रदेश (राजस्थान के एक मरुस्थलीय भाग, जिला-चूरू) मोमासर से हम (सहवर्ती मुनिद्वय सहित) चले, गालवनगर—ग्वालियर मे चातुर्मास्य किया। उससे दूसरा—अगला चातुर्मास्य विरलानगर मे किया। वहा धर्म का बहुत प्रसार हुआ।

वहाँ से विहार कर (हम) डूगरगढ मे समायोजित मर्यादा-महोत्सव मे सम्मिलित हुए। आचार्यवर का हमारे लिए पुन ग्वालियर जाने का विशेष आदेश हुआ। यो ग्वालियर से आने तथा वापस ग्वालियर जाने मे मुनिगण को चार सौ कोश का—आठ सौ माइलका मार्ग तय करना पडा। यह कहावत सच्ची सिद्ध हुई कि भगवान् भक्ति के अधीन होते है ॥ १२।१३।१४ ॥

जहाँ विरलानगर—मानव मन्दिर मे इस ग्रन्थ का प्रणयन प्रारम्भ हुआ, वहीं उसकी पूर्ति - समापन हुआ। सबका कल्याण हो, मगल हो। (यही मेरी भावना है) ॥ १५ ॥

शुभ सवत् २०३२ आषाढ शुक्ला षष्ठी को यह सर्वतोभद्र—सब प्रकार से कल्याणकारी काव्य सम्पूर्ण हुआ ॥ १६ ॥

श्री केवल मुनि के पुत्र, धन्य (धन) मुनि के लघु भ्राता चन्दनमुनि ने इस ग्रन्थ की रचना इस प्रकार सम्पन्न की ॥ १७ ॥

मगलमूर्ति भगवान् महावीर के मगलमय चरणों मे इस ... मान—प्रयत्नवान् होते हुए मैंने अपने आप को सर्म...

॥ समाप्त ॥